THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला—ग्रन्थ १

पण्डितवरश्रीवामनविरचिता

काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः

['काव्यालङ्कारदीपिका' हिन्दीव्याख्याविभूषिता]

व्याख्याकार

आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि

अध्यक्ष, 'श्रीधर अनुसन्धान विभाग'

गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन

तथा

सम्मान्य सदस्य, हिन्दी अनुसन्धान परिषद्

दिल्ली विश्वविद्यालय

सम्पादक

डा० नगेन्द्र, एम.ए., डी.लिट्

हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

की ओर से

आत्माराम एण्ड संस

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

द्वारा प्रकाशित

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड सस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य १२)
सं० २०११ . १९५४ ई०

मुद्रक
न्यू इण्डिया प्रेस
कनाट सर्कस
नई दिल्ली

हमारी योजना

'हिन्दी काव्यालङ्कारसूत्र', 'हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला' का पहला ग्रन्थ है। हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, की संस्था है जिसकी स्थापना अक्तूबर १९५२ में हुई थी। इसका कार्य-क्षेत्र हिन्दी भाषा एवं साहित्य विषयक अनुसन्धान तक ही सीमित है और कार्य-क्रम मूलतः दो भागो में विभक्त है। पहले विभाग पर गवेषणात्मक अनुशीलन का और दूसरे पर उसके फलस्वरूप उपलब्ध साहित्य के प्रकाशन का दायित्व है।

परिषद् ने इस वर्ष पाँच ग्रन्थो के प्रकाशन की योजना बनाई है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अतिरिक्त दो ग्रन्थ और प्रकाशित हो चुके हैं: (१) मध्य-कालीन हिन्दी कवयित्रियाँ और (२) अनुसन्धान का स्वरूप। अन्य दो ग्रन्थ—'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित' तथा 'हिन्दी साहित्य पर सूफीमत का प्रभाव' भी प्रेस में हैं। उपर्युक्त ग्रन्थो में से 'अनुसन्धान का स्वरूप' अनुसन्धान के मूल सिद्धान्त तथा प्रक्रिया के सम्बन्ध में मान्य आचार्यो के निबन्धो का सङ्कलन है; 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित' आचार्य 'कुन्तक' के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवितम्' की हिन्दी-व्याख्या है, और शेष दोनो ग्रन्थ दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच डी के लिए स्वीकृत गवेषणात्मक प्रबन्ध हैं। इस योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की सुप्रसिद्ध प्रकाशन-सस्था—'आत्माराम एण्ड सस' के अध्यक्ष श्री रामलाल पुरी का सक्रिय सहयोग प्राप्त है। उनके अमूल्य सहयोग ने हमे प्रायः सभी प्रकार की व्यावहारिक चिन्ताओ से मुक्त कर यह अवसर दिया है कि हम अपना ध्यान और शक्ति पूर्णतः साहित्यिक कार्य पर ही केन्द्रित कर सकें। 'हिन्दी अनुसन्धान परिषद्' श्री पुरी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करती है।

नगेन्द्र
अध्यक्ष
हिन्दी अनुसन्धान परिषद्,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

चैत्र शुक्ला प्रतिपदा, २०११ वि०

भूमिका

आचार्य वामन

और

रीति सिद्धान्त

लेखक—डा० नगेन्द्र

तत्त्वों में उन्होंने गुणों को ही ग्रहण किया है—रस का गुण के ही एक तत्व रूप में उल्लेख किया गया है।

काव्य की परिभाषा और स्वरूप :

वामन ने यद्यपि काव्य की परिभाषा पृथक रूप से नहीं दी, फिर भी आरम्भ में ही उन्होंने काव्य के लक्षण और स्वरूप का निर्देश किया है : काव्यशब्दोऽय गुणालङ्कारसस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते—अर्थात् गुणों और अलङ्कारों से संस्कृत (भूषित) शब्द और अर्थ के लिए 'काव्य' शब्द का प्रयोग होता है। इसी तथ्य को और स्पष्ट करते हुए वामन ने लिखा है :—काव्य अलङ्कार के कारण ही ग्राह्य होता है।* अलंकार का अर्थ है सौन्दर्य और सौन्दर्य का समावेश दोषों के बहिष्कार और गुण तथा अलंकार के आदान से होता है। गुण नित्य धर्म हैं, अलङ्कार अनित्य—केवल गुण सौन्दर्य की सृष्टि कर सकते हैं परन्तु केवल अलङ्कार नहीं :—अर्थात् गुण की स्थिति अनिवार्य है, अलङ्कार की वैकल्पिक। इस प्रकार वामन के अनुसार गुणो से अनिवार्यत' और अलङ्कारों से साधारणतः युक्त तथा दोष से रहित शब्द-अर्थ का नाम काव्य है। वामन की इसा परिभाषा को ध्वनिवादी मम्मट ने यथावत् स्वीकार करते हुए काव्य का लक्षण किया है . तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृती पुन. क्वापि—काव्य उस शब्दार्थ का नाम है जो दोषों से रहित और गुणो से युक्त हो—साधारणतः अलंकृत भी हो परन्तु यदि कही अलकार न भी हो तो कोई हानि नहीं। अर्थात् दोषों से रहित तथा गुणो से अनिवार्यतः एवं अलङ्कारों से साधारणतः युक्त शब्द-अर्थ को काव्य कहते हैं। मम्मट ने वामन का सिद्धान्त रूप से घोर विरोध किया है, परन्तु काव्य-लक्षण उन्होंने वामन का ही ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया है। संस्कृत काव्य-शास्त्र में वामन के पूर्व भरत, भामह और दण्डी के काव्य-लक्षण मिलते हैं। भरत का वामन से मौलिक मतभेद है, भरत अन्तर्तत्व-रस को प्रधानता देते हैं, वामन बाह्य तत्व रीति को। भामह और दण्डी भी देहवादियो मे ही आते हैं, अतएव इस प्रसंग में उन्हीं के लक्षणों का तुलनात्मक विवेचन अधिक सार्थक होगा।

भामह का लक्षण इस प्रकार है : शब्दार्थौ सहितौ काव्य—सहित अर्थात् सामंजस्यपूर्ण शब्द-अर्थ को काव्य कहते हैं। भामह ने शब्द और अर्थ

---

* काव्यं ग्राह्यमलकारात् ॥१॥ सौन्दर्यमलकारः ॥२॥ स दोषगुणालकारहानादानाभ्याम् ॥३॥ (काव्यालकारसूत्रवृत्ति. १,१)

के सामंजस्य को काव्य की संज्ञा दी है। इसी प्रकार दण्डी ने काव्य को 'इष्टार्थव्यवच्छिन्नापदावली'—अर्थात् अभिलषित अर्थ को व्यक्त करने वाली पदावली माना है। उपर्युक्त दोनों लक्षणों में केवल शब्दावली का भेद है—इष्टार्थ को अभिव्यक्त करने वाला शब्द—और शब्द-अर्थ का साहित्य या सामंजस्य एक ही बात है क्योंकि शब्द इष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति तभी कर सकता है जब शब्द और अर्थ में पूर्ण सामंजस्य एवं सहभाव हो। आगे चलकर भामह और दण्डी के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि शब्द और अर्थ का सामंजस्य ही काव्य-सौन्दर्य है और वह अलङ्कार से अभिन्न है। इस प्रकार उनके अनुसार काव्य निसर्गतः अलङ्कार-युक्त होता है। भामह और दण्डी ने वास्तव में गुण और अलङ्कार में भेद नहीं किया—दोनों ही अलङ्कार हैं। देहवादी आचार्यों में कुन्तक का स्थान अन्यतम है। उनका मत है कि वक्रोक्तियुक्त बन्ध (पद-रचना) में सहभाव से व्यवस्थित शब्द-अर्थ ही काव्य है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं···· ।

यहां भी मूल तथ्य वही है—वचन-भंगिमा भिन्न है। 'गुण और अलङ्कार से युक्त' के स्थान पर कुन्तक ने केवल एक शब्द 'वक्रकविव्यापारशाली' प्रयुक्त किया है : वास्तव में भामह तथा दण्डी के अलङ्कार और वामन के गुण तथा अलंकार को कुन्तक ने वक्रोक्ति में अन्तर्भूत कर लिया है—और वे उसी के प्रस्तार मात्र बन गए हैं।

इनके विपरीत दूसरा वर्ग साहित्यिक आत्मवादियों का है—जिसके अन्तर्गत भरत, आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्य आते हैं। भरत ने रसमयी, सुखबोध्य मृदु-ललित पदावली को काव्य माना है—आगे के आचार्यों ने इसी में संशोधन करते हुये उसे रसात्मक वाक्य अथवा रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द कहा है। इन आचार्यों ने स्पष्टतया आंतरिक तत्व अर्थ-सम्पदा पर अधिक बल दिया है, जबकि उपर्युक्त साहित्यिक देहवादियों ने बाह्य रूपाकार पर।

इस पृष्ठभूमि में वामन के लक्षण का विवेचन करने पर निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं :

(१) वामन शब्द और अर्थ दोनों को समान महत्व देते हैं—सहित

शब्द का प्रयोग न करते हुए भी वे दोनों के साहित्य को ही काव्य का मूल अंग मानते हैं।

(२) दोष को वे काव्य के लिए असह्य मानते हैं : इसीलिए सौन्दर्य का समावेश करने के लिए दोष का बहिष्कार पहला प्रतिबन्ध है।

(३) गुण काव्य का नित्य धर्म है—अर्थात् उसकी स्थिति काव्य के लिए अनिवार्य है।

(४) अलङ्कार काव्य का अनित्य धर्म है—उसकी स्थिति वांछनीय है, अनिवार्य नहीं।

यह तो स्पष्ट ही है कि वामन का लक्षण निर्दोष नहीं है। लक्षण अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों से मुक्त होना चाहिये : उसकी शब्दावली सर्वथा स्पष्ट किन्तु संतुलित होनी चाहिये—उसमें कोई शब्द अनावश्यक नहीं होना चाहिए। इस दृष्टि से, पहले तो वामन का और वामन के अनुकरण पर मम्मट का दोष के अभाव को लक्षण मे स्थान देना अधिक संगत नहीं है। दोष की स्थिति एक तो सापेक्षिक है, दूसरे, दोष काव्य मे बाधक तो हो सकता है, परन्तु उसके अस्तित्व का सर्वथा निषेध नहीं कर सकता। काणत्व अथवा क्लीवत्व मनुष्य के व्यक्तित्व की हानि करता हैं, मनुष्यता का निषेध नहीं करता। इसलिए दोषाभाव को काव्य-लक्षण में स्थान देना अनावश्यक ही है। इसके अतिरिक्त अलङ्कार की वांछनीयता भी लक्षण का अंग नहीं हो सकती। मनुष्य के लिए अलंकरण वांछनीय तो हो सकता है, किन्तु वह मनुष्यता का अनिवार्य गुण नहीं हो सकता। वास्तव में लक्षण के अन्तर्गत वांछनीय तथा वैकल्पिक के लिए स्थान ही नहीं है। लक्षण में मूल, पार्थक्य-कारी विशेषता रहनी चाहिए : भावात्मक अथवा अभावात्मक सहायक गुणों की सूची नहीं। इस दृष्टि से भामह का लक्षण "शब्द-अर्थ का साहित्य" कहीं अधिक तत्व-गत तथा मौलिक है। जहां शब्द हमारे अर्थ का अनिवार्य माध्यम बन जाता है वहीं वाणी को सफलता है। यही अभिव्यञ्जनावाद का मूल सिद्धान्त है—क्रोचे ने अत्यन्त प्रबल शब्दों में इसी का स्थापन और विवेचन किया है। आत्माभिव्यंजन का सिद्धान्त भी यही है। मौलिक और व्यापक दृष्टि से भामह का लक्षण अत्यन्त शुद्ध और मान्य है : परन्तु इस पर अतिव्याप्ति का आरोप किया जा सकता है, और परवर्ती आचार्यों ने किया भी है। आरोप यह है कि यह तो अभिव्यजना का लक्षण हुआ—काव्य का नहीं। शब्द और अर्थ का सामंजस्य उक्ति की सफलता है—अभिव्यञ्जना

की सफलता है। परन्तु क्या केवल सफल उक्ति अथवा सफल अभिव्यंजना ही काव्य है? हमारे आचार्यों ने—भरत से लेकर रामचन्द्र शुक्ल तक ने इसका निषेध किया है। उधर विदेश में भी अरस्तू से लेकर रिचर्ड्स तक सभी ने इसका प्रतिवाद किया है। भारतीय काव्य-शास्त्र में इसीलिए विश्वनाथ को 'रसात्मक' शब्द का प्रयोग करना पड़ा और पंडितराज जगन्नाथ को 'रमणीयार्थ प्रतिपादक' विशेषण लगाना पड़ा—शुक्ल जी ने भी इसीलिए रमणीय और रागात्मक शब्दों का प्रयोग किया है। इन आचार्यों के अनुसार प्रत्येक अर्थ और शब्द का सामंजस्य काव्य नहीं है—रमणीय अर्थ और शब्द का सामंजस्य ही काव्य है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक (सफल) उक्ति काव्य नहीं है सरस या रमणीय (रमणीय अर्थ को व्यक्त करने वाली) उक्ति ही काव्य है। अरस्तू ने भी भाव-वैभव पर इसी दृष्टि से अधिक बल दिया है—और आधुनिक मनोवैज्ञानिक आलोचक रिचर्ड्स भी, जो कि काव्य को मूलतः एक अनुभव मानते हैं, इस अनुभव के लिए—प्रकार की दृष्टि से नहीं—प्रभाव आदि की दृष्टि से कतिपय गुणों की स्थिति अनिवार्य मानते हैं। स्थूल शब्दों में प्रत्येक अनुभव काव्य नहीं है— समृद्ध अनुभव[1] ही काव्य है।

परन्तु इस तर्क के विरुद्ध भामह के लक्षण के समर्थन में भी युक्ति दी जा सकती है—और वह यह कि शब्द और अर्थ का सामंजस्य अपने आप में ही रमणीय होता है उसके लिए रमणीय विशेषण की आवश्यकता नहीं। क्रोचे का यही मत है कि सफल उक्ति स्वयं सौंदर्य है—उसके अतिरिक्त सौन्दर्य कोई बाह्य तत्त्व नहीं है। "सफल अभिव्यंजना ही सौन्दर्य है क्यों कि असफल अभिव्यंजना तो अभिव्यंजना ही नहीं होती।" (क्रोचे)। भारतीय काव्य-शास्त्र में कुन्तक की सूक्ष्म दृष्टि इस तथ्य तक पहुंची है और उन्होंने इस विरोधाभास को दूर करने का प्रयत्न किया है। एक स्थान पर साहित्य अर्थात् शब्द और अर्थ के सहभाव का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि शब्द और अर्थ का यह सहभाव केवल वाच्य-वाचक-सम्बन्ध-रूप नहीं होना चाहिए—उसमें तो वक्रता-वैचित्र्य गुणालंकार-सम्पदा की मानो परस्पर स्पर्धा रहनी चाहिए।[2] अन्यथा केवल वाच्य-वाचक सम्बन्ध होने से तो वह आह्लाद्-

---

१ रिच एक्सपीरियस

२ वक्रतावैचित्र्यगुणालंकारसम्पदा परस्परस्पर्धाधिरोहः।

हुए चार श्लोकों में उसका निरूपण किया है :[1] वाणी के अनेक मार्ग हैं जिनमें परस्पर अत्यंन्त सूक्ष्म भेद हैं। इनमें से वैदर्भ और गौडीय मार्गों का, जिनका पारस्परिक भेद अत्यन्त स्पष्ट है, अब वर्णन किया जाएगा। श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि—ये दश गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं। गौड मार्ग में प्रायः इनका विपर्यय लक्षित होता है। + + + + इस प्रकार प्रत्येक का स्वरूप-निरूपण कर इन दोनों मार्गों का अन्तर स्पष्ट कर दिया है। किन्तु जहां तक प्रत्येक कवि में स्थित (प्रत्येक कवि की अपनी प्रकृति के अनुसार) इनके भेदों का सम्बन्ध है, उनका वर्णन सम्भव नहीं है।

दण्डी का उपर्युक्त विवेचन संक्षिप्त होते हुए भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। उनके मन्तव्य का सार इस प्रकार है :

(१) रीति का अस्तित्व सर्वथा वस्तुगत नहीं होता : प्रत्येक कवि की अपनी विशिष्ट रीति होती है—कवि अनेक हैं अतएव रीतियों की संख्या भी अनेक हैं। इस प्रकार दण्डी ने अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दों में रीति में व्यक्ति-तत्व की सत्ता स्वीकार की है।

(२) सामान्यतः अपनी अत्यन्त पृथक विशेषताओं के कारण दो मार्ग या रीतियां—वैदर्भ और गौड़ीय दण्डी के समय तक कवियों और काव्य-रसिकों में प्रसिद्ध हो चुके थे। दण्डी ने उनका अस्तित्व तो लोक-परम्परा के अनुसार निश्चयरूप से स्वीकार किया है, परन्तु उनको निरपेक्ष नहीं माना है।

---

१ अस्त्यनेको गिरा मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥ ४० ॥
श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ॥ ४१ ॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो लक्ष्यते गौडवर्त्मनि ॥ ४२ ॥
+ + + +
इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः ॥ १०१ ॥
(प्र० परिच्छेद—काव्यादर्श)

(३) दण्डी ने सबसे प्रथम रीति और गुण का सम्बन्ध स्थापित किया है—बाण भट्ट ने जिसका संकेत मात्र किया था—दण्डी ने उसे नियम-बद्ध कर दिया।

(४) भरत ने श्लेष, प्रसाद आदि को काव्य-गुण माना है, परतु दण्डी ने उन्हें वैदर्भ मार्ग के गुण माना है। इसका अभिप्राय कदाचित् यह है कि वे वैदर्भ मार्ग को काव्य के लिए आदर्श मानते हैं—अथवा वैदर्भ काव्य और सत्काव्य को अभिन्न मानते हैं।

(५) गौड़ीय मार्ग में दण्डी के अनुसार उपर्युक्त गुणों का प्रायः विपयय रहता है। प्रायः का अभिप्राय यह है कि उनमें से (१) अर्थव्यक्ति—अर्थात् अर्थ की स्फुट प्रतीति कराने की शक्ति, (२) औदार्य—अर्थात् प्रतिपाद्य अर्थ में उत्कर्ष का समावेश, और (३) समाधि—अर्थात् एक वस्तु के धर्म का दूसरी वस्तु में सम्यक् रीति से आधाव—लाक्षणिक और औपचारिक प्रयोग शक्ति—ये तीन गुण दोनों में समान हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इन तीन गुणों को दण्डी काव्य के लिए अनिवार्य मानते हैं—क्योंकि अर्थ-व्यक्तिहीन काव्य हृदयंगम नहीं हो सकता, औदार्य-रहित होकर वह इतिवृत्त कथन रह जाता है और समाधि को तो दण्डी ने स्पष्ट शब्दों में 'काव्य-सर्वस्व' माना ही है।—इन तीन गुणों के अतिरिक्त शेष सात गुणों का विपर्यय गौडीय मार्ग का आधार है।

संस्कृत के विद्वानों में दण्डी के 'एषां विपर्ययः—इनका विपर्यय' इन दो शब्दों को लेकर बड़ा विवाद चला है। कुछ विद्वान एषां (इनके) का अर्थ करते हैं दशगुणों का, और विपर्यय का अर्थ करते हैं वैपरीत्य। दूसरे विद्वान एषां का सम्बन्ध प्राणाः—मूलतत्व—से स्थापित करते हैं और विपर्यय का अर्थ करते हैं अन्यथात्व; इस प्रकार उनके अनुसार दण्डी का आशय है: श्लेषादि वैदर्भ मार्ग के मूल तत्व हैं; गौडीय मार्ग के मूलतत्व इनसे अन्यथा है। विद्वानों का एक तीसरा वर्ग इन दोनों से भिन्न अर्थ करता है—वे एषां को तो गुणों का ही वाचक मानते हैं, परन्तु विपर्यय का अर्थ अन्यथात्व करते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि गौड़ीय मार्ग में श्लेषादि दश गुणों का अन्यथा रूप मिलता है।

अब उपर्युक्त आख्यानों की परीक्षा कीजिए। पहले आख्यान के विरुद्ध यह आक्षेप है कि जब उपर्युक्त दश गुण सौन्दर्य-बोधक हैं तो इनके विपरीत

रूप कुरूपता-बोधक हुए अर्थात् दोष हुए। गौड़ीय मार्ग के मूलतत्व यदि कुरूपता-बोधक दोष हैं—तो फिर उसे काव्य-मार्ग कैसे माना जा सकता है? और वास्तव में दण्डी ने गौडीय मार्ग के प्रसंग में जितने उदाहरण दिए हैं वे कुकाव्य के उदाहरण नहीं हैं। इस आक्षेप का उत्तर दिया जा सकता है: दण्डी ने गुण के विपर्यय को दोष नहीं माना है—व्युत्पन्नता, दीप्ति और अत्युक्ति तो दोष हैं ही नहीं—शैथिल्य और वैषम्य को भी निरपेक्ष रूप से दोष नहीं माना जा सकता। वामन ने तो बन्ध-शैथिल्य को शब्द-गुण माना ही है। उनके उपरान्त इसी सत्य का उद्घाटन आनन्दवर्धन ने और भी स्पष्ट शब्दों में किया है। पद-रचना का कोई रूप—समस्त अथवा असमस्त पद, गाढ अथवा स्फुट बन्ध अपने आप में न काव्य का अपकर्षक है न उत्कर्षक: विषय और भाव के अनुसार ये दोनों ही गुण हो सकते हैं, और दोनों ही दोष। इसलिए श्लेषादि गुणों के विपर्यय—जिनकी स्थिति गौडीय मार्ग में मानी गई है—दोष-वाचक नहीं हैं, श्लेषादि के तुल्य उत्कर्षवाचक चाहे न हों।

उपर्युक्त तर्क दूसरे आख्यान की क्लिष्ट कल्पना को अनावश्यक बना देता है। दण्डी ने निश्चय ही वैदर्भ मार्ग को श्रेष्ठ और गौड़ीय को निकृष्ट माना है। इसलिए श्लोक के उत्तरार्ध का यह अर्थ कि गौड़ मार्ग के मूल तत्व वैदर्भ के मूल तत्वों से केवल भिन्न होते हैं क्लिष्टान्वय होने के अतिरिक्त प्रसंग-विरुद्ध भी है।

तीसरा अख्यान भी हमारे उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में अनावश्यक हो जाता है: जब वैपरीत्य दोष नहीं है तो अन्यथात्व की कल्पना ही क्यों की जाए? वैसे भी दण्डी के व्युत्पन्न आदि विपर्ययों में वैपरीत्य के साथ साथ चाहे अन्यथात्व भी भले ही हो, परन्तु शैथिल्य और वैषम्य के विषय में तो ऐसी कोई शंका नहीं हो सकती—वे तो निश्चय ही पूर्णतया विपरीत रूप हैं। इसलिए विपर्यय का अर्थ अन्यथात्व करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि दण्डी के पूर्वोद्धृत विपर्ययों में से किसी में भी वैपरीत्य का अभाव नहीं है:—व्युत्पन्न आदि में आंशिक वैपरीत्य है और शैथिल्य आदि मे पूर्ण।

निष्कर्ष यह है कि 'एषां' से दण्डी का आशय दश गुणों का और 'विपर्यय' से वैपरीत्य का ही है। दण्डी ने गौड मार्ग को हीनतर मानते हुए भी

काव्य-मार्ग ही माना है, अतएव गुणों के विपर्ययों की कल्पना भी काव्य की परिधि के भीतर ही की है : उदाहरण के लिए प्रसाद का विपर्यय 'क्लिष्ट' कान्ति (स्वाभाविक वर्णन) का 'अस्वाभाविकता', और सौकुमार्य (कोमल और निष्ठुर वर्णों का रमणीय मिश्रण) का विपर्यय केवल 'स्त्रैण अथवा श्रुतिकटु वर्णों का प्रयोग' नहीं माना क्यों कि ये सभी विपर्यय काव्य की परिधि से बाहर पड़ जाते। इसके विपरीत उन्होंने काव्य की परिधि के भीतर ही क्रमशः व्युत्पन्न—अर्थात् शास्त्र-ज्ञान पर आश्रित, अत्युक्ति तथा दीप्ति को ही प्रसाद कान्ति और सौकुमार्य का विपर्यय माना है। इसी कारण अर्थव्यक्ति औदार्य और समाधि के विपर्यय दिये ही नहीं गए क्योंकि उनसे काव्य की हानि हो जाती—उन्हें वैदर्भ और गौड दोनों के लिए समान रूप से आवश्यक मान लिया गया है।

दण्डी के उपरान्त तो वामन द्वारा रीति सम्प्रदाय की स्थापना हो ही जाती है। उनके विवेचन के फल-स्वरूप रीति का स्वरूप, आधार, क्षेत्र, प्रकार आदि का निर्धारण हो जाता है।

रीति की परिभाषा और स्वरूप

रीति का अर्थ :— रीति शब्द का प्रयोग सबसे पहले वामन ने किया है। जैसा कि भोज ने अपनी परिभाषा में स्पष्ट किया है रीति शब्द रीङ् धातु से बना है—इसका व्युत्पत्ति-अर्थ है गति, मार्ग या प्रस्थान, और रूढ अर्थ है पद्धति, विधि आदि। वामन से पूर्व दण्डी ने और वामन के उपरान्त कुन्तक आदि ने रीति के लिए मार्ग शब्द का ही प्रयोग किया है।

परिभाषा :—वामन से पूर्व यद्यपि भामह और दण्डी ने रीति की चर्चा की है, परन्तु उन दोनों में से किसी ने भी रीति का लक्षण या परिभाषा नहीं की। यह कार्य भी सर्व प्रथम वामन ने ही किया। इस प्रकार रीति शब्द के प्रथम प्रयोक्ता, रीति के लक्षणकर्ता, और रीति-सम्प्रदाय के संस्थापक वामन ही हैं। अतएव रीति का स्वरूप समझने के लिए आधार रूप में उनकी ही शब्दावली का आश्रय लेना संगत होगा।

वामन के अनुसार रीति का अर्थ है विशिष्ट पद-रचना—विशिष्टा पद-रचना रीतिः। का० सू० १।२।७। विशिष्ट का अर्थ है गुण-सम्पन्न—विशेषो

गुणात्मा । १॥२॥८ । गुण से तात्पर्य है काव्य-शोभा-कारक (शब्द और अर्थ के) धर्म का ॥ २।२।१॥

इस प्रकार वामन के अनुसार रीति की परिभाषा हुई :—काव्य-शोभा-कारक शब्द और अर्थ के धर्मो से युक्त पद-रचना को रीति कहते हैं। यहां 'काव्य-शोभा-कारक शब्द और अर्थ के धर्मों से युक्त' शब्दावली कुछ बिखरी हुई है। इसमें एक तो 'काव्य' शब्द अनावश्यक है क्योंकि यह तो समस्त प्रपंच ही काव्य का है। 'शोभा-कारक शब्द और अर्थ के धर्म' का अर्थ हुआ—शब्द और अर्थ-गत सौन्दर्य—या शब्द-चमत्कार तथा अर्थ-चमत्कार। और वामनकृत परिभाषा का रूप हुआ : शब्द तथा अर्थ-गत चमत्कार से युक्त पद-रचना का नाम रीति है। इसको और भी संक्षिप्त किया जा सकता है : 'शब्द तथा अर्थ-गत सौन्दर्य से युक्त' के स्थान पर केवल 'सुन्दर' का प्रयोग किया जा सकता है। सुन्दर पदरचना या सम्यक् पदरचना का नाम रीति है।

अतएव वामन के अनुसार "शब्द और अर्थ-गत सौन्दर्य से युक्त पद-रचना का नाम रीति है।" अथवा "सुन्दर पदरचना का नाम रीति है—यह सौन्दर्य शब्द-गत तथा अर्थगत होता है।"

वामन के उपरान्त अन्य आचार्यों ने भी रीति का लक्षण—अथवा स्वरूप निरूपण किया है। आनन्दवर्धन ने उसको संघटना नाम दिया है। सम्यक् अर्थात् यथोचित घटना—पदरचना का नाम संघटना अथवा रीति है। आनन्दवर्धन ने वास्तव में वामन की परिभाषा को ही संक्षिप्त कर दिया है। वामन का पद-रचना और आनन्दवर्धन का घटना शब्द तो पर्याय ही हैं : दोनों के विशेषणों में भी कोई मौलिक अन्तर नहीं है। वामन ने पदरचना को शब्द और अर्थ-गत सौन्दर्य से युक्त (गुणात्मक) कहा है, आनन्दवर्धन ने उसके लिए सम्यक् (यथोचित) विशेषण का प्रयोग किया है। आनन्दवर्धन के सामने रस का मानदण्ड था—इसलिए उन्होंने तदनुकूल 'सम्यक्'—यथोचित् शब्द का ही प्रयोग किया क्योंकि रस को प्रमाण मानने के उपरान्त उसके अनुसार औचित्य-निर्धारण सहज हो जाता है। वामन के समक्ष इस प्रकार का मानदण्ड कोई नहीं था—उन्होंने शब्द-अर्थ का ही चरम मान स्वीकार करते हुये शब्द और अर्थगत सौन्दर्य को विशेषण माना है। अतएव आनन्दवर्धन और वामन की परिभाषाओं मे मौलिक साम्य होते हुए भी विशेषणों मे सूक्ष्म अंतर है। आनन्दवर्धन के सिद्धान्तानुसार रीति रसाश्रयी है, अतएव उन्होंने घटना—या

पदरचना के लिए 'सम्यक्—यथोचित्' विशेषण का प्रयोग किया है। वामन की रीति स्वतंत्र है—अतएव उनके मत से पदरचना का वैशिष्ट्य अपने शब्द और अर्थगत सौन्दर्य से अभिन्न है।

आनन्दवर्धन की रीति रस-रूप सौन्दर्य की साधन है: "व्यनक्ति सा रसादीन्" (ध्व० ३,६),—वामन की रीति अपने आप में सिद्धि है।

आनन्द ने अपने मत का व्याख्यान करते हुए आगे लिखा है: संघटना तीन प्रकार की कही गई है—असमासा, मध्यमसमासा और दीर्घसमासा। ३, ५॥[1] वह माधुर्यादि गुणों के आश्रय से स्थित रसों को अभिव्यक्त करती है। ३, ६॥[2]

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने रीति के सम्बन्ध में तीन बातें कही हैं:— (१) रीति या संघटना के स्वरूप का आधार केवल समास है: उसी का आकार अथवा सद्भाव-अभाव रीतियों के विभाजन का आधार है। अर्थात् मूर्तरूप में रीति का स्वरूप-निर्धारण समास की स्थिति अथवा आकार द्वारा होता है। (२) रीति की स्थिति गुणों के आश्रय से है—रीति गुणाश्रयी है। (३) वह रसाभिव्यक्ति का माध्यम है।

आनन्दवर्धन के उपरान्त राजशेखर ने रीति का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। उन्होंने रीति की परिभाषा की है: वचन-विन्यास-क्रमो रीतिः अर्थात् वचन-विन्यास का क्रम रीति है। यह परिभाषा वामन की परिभाषा से मूलतः भिन्न नहीं है—केवल शब्दों का अंतर है। वचन का अर्थ है शब्द या पद और विन्यास-क्रम का अर्थ है रचना। राजशेखर ने काव्यपुरुष के रूपक का प्रसंग होने के कारण वाणी से सम्बन्ध रखने वाले शब्द प्रयुक्त किये हैं— लेखन से सम्बद्ध शब्द नहीं। इसीलिए पद अथवा शब्द के स्थान पर वचन और रचना के स्थान पर विन्यास-क्रम का प्रयोग किया गया है।

कुन्तक ने रीति का नाम फिर मार्ग रख दिया और रीति-विषयक विवेचन में क्रान्ति उपस्थित करने का प्रयत्न किया। कुन्तक स्वतंत्र विचारवान् आचार्य थे—उन्होंने काव्य में कवि-स्वभाव को मुख्य मानते हुए उसी के

---

१ असमासा, समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा सघटनोदिता ॥३, ५॥

२ गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती, माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसान्…… ……॥३, ६॥

तत्व मानते थे। उत्तर-ध्वनि आचार्यों ने अलङ्कार और अलङ्कार्य—वस्तु और शैली अथवा प्राण और देह का अन्तर स्पष्ट किया और रस ध्वनि को काव्य का प्राणतत्व तथा रीति को बाह्यांग माना—जिस प्रकार अंग-संस्थान आत्मा का उपकार करता है, इसी प्रकार रीति रस की उपकर्त्री है। उन्होंने रीति को काव्य का माध्यम मानते हुए वर्ण-संयोजन, तथा पद-रचना अर्थात् शब्द-गुम्फ तथा समास को उसके बहिरंग तत्व और गुण को अन्तरग तत्व स्वीकार किया जिसके आश्रय से वह रस की अभिव्यक्ति करती है।

रीति के नियामक हेतु

वामन ने तो रीति की स्वतन्त्र तथा सर्वतन्त्र सत्ता मानी थी—अतएव उनके लिए तो रीति के नियमन तथा नियामक हेतुओं का प्रश्न ही नहीं उठता—परन्तु आगे चलकर स्थिति बदल गई। रीति को परतन्त्र होना पड़ा। अनन्दवर्धन ने रस को रीति का प्रमुख नियामक हेतु माना है। रीति पूर्णतया रस के नियन्त्रण में रहती है—उसी के अधीन कुछ और भी हेतु हैं जो उपचार से रीति का नियमन करते हैं। रस के अतिरिक्त ये हेतु तीन हैं वक्तृ-औचित्य, वाच्य-औचित्य और विषय-औचित्य।

तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ॥ ३।६ ॥

उस (संघटना) के नियमन का हेतु वक्ता तथा वाच्य का औचित्य ही है।

इसके अतिरिक्त—

विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति।
काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा ॥ ३।७ ॥

अर्थात् विषयाश्रित औचित्य भी उसका (संघटना का) नियन्त्रण करता है। काव्य के भेदों के आश्रय से भी उसका भेद हो जाता है।

उपर्युक्त तीन नियामक हेतुओं की थोडी व्याख्या अपेक्षित है। इनकी परिभाषा स्वयं आनन्दवर्धन ने की है।

"वक्ता कवि या कवि-निबद्ध (दो प्रकार का) हो सकता है। और कवि-निबद्ध (वक्ता) भी रसभाव (आदि) से रहित अथवा रसभावयुक्त (दो

प्रकार का) हो सकता है। रस भी कथानायक-निष्ठ और उसके विरोधी (प्रतिनायक)-निष्ठ (दो प्रकार का) हो सकता है। कथानायक भी धीरोदात्तादि भेद से विभिन्न मुख्य नायक अथवा उसके वाद का (उपनायक पीठमर्द) हो हो सकता है। इस प्रकार वक्ता के अनेक विकल्प हैं"। (हिन्दी ध्वन्यालोक पृ० २४४)।

वास्तव में यह वक्ता के स्वभाव और मन : स्थिति की व्याख्या है—वक्ता के स्वभाव और मन स्थिति के अनुकूल ही रीति का प्रयोग उचित है।

"इसी प्रकार वाच्य (अर्थ भी) ध्वनिरूप (प्रधान) रस का अंग (अभिव्यंजक) अथवा रसाभास का अंग (अभिव्यञ्जक), अभिनेयार्थ या अनभिनेयार्थ, उत्तम प्रकृति में आश्रित, अथवा उससे भिन्न (मध्यम, अधम) प्रकृति में आश्रित—इस तरह नाना प्रकार का हो सकता है।" (हिन्दी ध्वन्यालोक, पृ० २४४)

वाच्य से अभिप्राय यहां विषय—अथवा विषयवस्तु या वर्ण्य वस्तु का है जो निश्चय ही रीति का नियामक है क्योंकि रीति का प्रयोग निस्संदेह ही वर्ण्य विषय पर निर्भर रहता है। सुकुमार विषयों की वर्णन-शैली में मार्दव और परुष विषयों की शैली में परुषता स्वाभाविक ही है।

आनन्दवर्धन के अनुसार तीसरा नियामक हेतु है विषय। विषय का अर्थ, जैसा कि स्वयं लेखक ने ही स्पष्ट कर दिया है, विषय-वस्तु अथवा वर्ण्य विषय नहीं है : उसका उल्लेख तो वाच्य के द्वारा किया ही जा चुका है। विषय से यहां काव्य के रूप का अभिप्राय है। 'मुक्तक, पर्यायबन्ध, परिकथा खण्डकथा, सकल कथा, सर्गबन्ध (महाकाव्य), अभिनेयार्थ (रूपक), आख्यायिका और कथा आदि (काव्य के) अनेक प्रकार हैं। इनके आश्रय से भी संघटना या रीति में भेद हो जाता है।" (हि० ध्व० पृ० २४५)। संस्कृत काव्य-शास्त्र में बाह्यांगों के आधार पर वर्गीकरण करने की प्रवृत्ति कुछ अधिक बलवती रही है। उसमें प्रायः अनावश्यक भेद-विस्तार किया गया है इसीलिए उसके अनेक काव्य-भेद आगे चलकर मान्य नहीं हुए : विशेषकर शैली मात्र पर आश्रित काव्य-रूप प्रायः सभी लुप्त हो चुके हैं। फिर भी आनन्दवर्धन के उपर्युक्त मन्तव्य से असहमत होने के लिए कोई अवकाश नहीं है। महाकाव्य और नाटक सदृश काव्य-रूपों का प्रभाव तो रचना-रीति पर अत्यन्त प्रत्यक्ष ही रहता है—उनके अतिरिक्त अनेक सूक्ष्म भेदों का प्रभाव भी सहज

हीं लक्षित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए उपन्यास और कहानी मुक्तक और गीत के रूप-भेद से उनकी शैली में भी निश्चय ही भेद रहता है।

उपर्युक्त विवेचन अत्यन्त सार्थक होने के अतिरिक्त सर्वथा आधुनिक भी है। यूरोप के काव्यशास्त्र में शास्त्रीय—अथवा छद्म शास्त्राय परम्पराओं के बाह्य मूल्यों के विरुद्ध मनोविज्ञान-सम्मत आन्तरिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के निमित्त जो कार्य उन्नीसवीं शताब्दी में किया गया (यद्यपि वहां भी लोंजाइनस, दांते आदि अनेक प्राचीन आचार्य उसका संकेत सैकड़ो-हज़ारों वर्ष पूर्व कर चुके थे), उसे हमारे यहा आनन्दवर्धन आठवीं-नवीं शताब्दी में विधिवत् सम्पादित कर चुके थे।

रीति का प्रवृत्ति, वृत्ति तथा शैली से अन्तर

शास्त्र में रीति के सहधर्मी कुछ अन्य काव्यांगों का भी प्रयोग मिलता है—उनसे पार्थक्य किये बिना रीति का वास्तविक रूप उद्घाटित नहीं हो सकता।

रीति और प्रवृत्ति — कालक्रमानुसार सबसे पहले तो प्रवृत्ति को लीजिए। प्रवृत्ति का विवेचन सर्व-प्रथम भरत में और फिर उनके अनुकरण पर राजशेखर, भोज और शिंगभूपाल आदि में मिलता है। जैसा कि मैंने आरम्भ में विवेचन किया है, भरत के अनुसार प्रवृत्ति उस विशेषता का नाम है जो नाना देशों के वेश, भाषा तथा आचार का ख्यापन करे।[1] इस प्रकार प्रवृत्ति का सम्बन्ध केवल भाषा से ही न होकर वेश तथा आचार से भी है—जबकि रीति का सम्बन्ध केवल भाषा से ही है। प्रवृत्ति पूरे रहन-सहन के ढंग से सम्बन्ध रखती है, और रीति केवल बोलने तथा लिखने के ढंग से। प्रवृत्ति के मूल तत्व प्रायः बाह्य तथा मूर्त हैं—रीति के आन्तरिक। अतएव प्रवृत्ति का निश्चयात्मक आधार भौगोलिक है परन्तु रीति का आधार कवि-स्वभावगत ही अधिक है। प्रवृत्ति व्यवहारात्मक है, इसीलिए राजशेखर ने उसको केवल वेश-विन्यास-क्रम ही माना है, रीति एकान्त साहित्यिक।

---

१ पृथिव्या नाना देशवेशभाषाचारवार्ता ख्यापयतीति प्रवृत्ति
(नाट्यशास्त्र)

इसीलिए प्रवृत्ति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नाटक से ही है—रीति का काव्य से (या नाटक के काव्यांग से)। परन्तु इस भेद के रहते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि रीति की कल्पना के पीछे प्रवृत्ति की प्रेरणा निस्संदेह वर्तमान थी।

रीति और वृत्ति :—प्रवृत्ति का प्रचलन अत्यन्त सीमित ही रहा—अतएव उसके विषय में विशेष भ्रान्ति उत्पन्न नहीं हुई। परन्तु वृत्ति और रीति में अन्त तक भ्रान्ति के लिए अवकाश रहा।

वृत्ति के संस्कृत काव्य-शास्त्र में अनेक अर्थ हैं—किन्तु उन सबका प्रस्तुत प्रसंग से सम्बन्ध नहीं है। वृत्ति के केवल दो रूप ऐसे हैं जो रीति के समानधर्मी हैं—जिनसे उसका पार्थक्य आवश्यक है। ये दो रूप हैं (१) नाट्य वृत्तियां : भारतीय, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी—जिन्हें आनन्दवर्धन और अभिनव ने अर्थवृत्तियां कहा है। (२) काव्य-वृत्तियां : उपनागरिका, परुषा और कोमला (ग्राम्या)—जिन्हें आनन्दवर्धन तथा अभिनव ने शब्दवृत्तियां कहा है। इन्हें अनुप्रासजाति भी कहते हैं।

आनन्दवर्धन ने वृत्ति की परिभाषा इस प्रकार की है : व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते—अर्थात् व्यवहार या व्यापार का नाम वृत्ति है। अभिनवगुप्त ने इसी की तात्विक व्याख्या करते हुए लिखा है : तस्माद् व्यापारः पुरुषार्थ-साधको वृत्तिः—पुरुषार्थ-साधक व्यापार का नाम ही वृत्ति है। और स्पष्ट शब्दों में, पात्रों की कायिक, वाचिक और मानसिक विचित्रता से युक्त चेष्टा ही वृत्ति है। इस व्यापार का वर्णन काव्य में सर्वत्र होता है—कोई भी वर्णन व्यापार-शून्य नहीं होता, इसीलिए वृत्ति को काव्य की माता कहा गया है :

सर्वेषामेव काव्यानां वृत्तयो मातृकाः स्मृताः। (भरत)

यहां वाचिक के साथ ही कायिक और मानसिक चेष्टाओं का भी अन्तर्भाव है—इसलिए वृत्ति का रूप शब्दगत और अर्थगत दोनों प्रकार का होता है। आगे चलकर ये दोनों रूप पृथक् हो जाते हैं। आनन्दवर्धन के शब्दों में रसानुगुण अर्थ-व्यवहार भारती, सात्वती आदि वृत्तियों का रूप धारण कर लेता है, और रसानुगुण शब्द-व्यवहार उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों का जिनके उद्भावक हैं आचार्य उद्भट। उद्भट ने इन्हें अनुप्रासजाति ही माना है, अतएव उनके मत से ये वृत्तियां वर्ण-व्यवहार मात्र ही हैं—इनमें पद-संघटना का विचार नहीं है। इन वृत्तियों के स्वरूप के विषय में आचार्यों में

मतभेद रहा है। रुद्रट ने वृत्ति को समास के आश्रित माना है और समासयुक्त पद-सघटना को उसका आधार स्वीकार किया है :

नाम्नां वृत्तिर्द्वेधाभवति समासासमाभेदेन।

आनन्दवर्धन ने थोडा और व्यापक रूप देते हुए उसे शब्द-व्यवहाररूप माना है। परन्तु आगे चलकर मम्मट ने फिर उद्भट के अनुसरण पर उसे नियतवर्ण-व्यापार मात्र ही स्वीकार किया है। और बाद में चलकर तो वृत्ति का रीति में अंतर्भाव ही हो गया।

अर्थ-वृत्ति : उपयुक्त दो प्रकार की वृत्तियो में पहली का रीति से निकट सम्बन्ध नहीं है : इनका प्रयोग प्रायः नाटक के प्रसग में ही होता है—आज उपन्यास के क्षेत्र में भी इनकी सार्थकता हो सकती है। कायवाङ्मनसां चेष्टा (अभिनवगुप्त) होने के कारण इनकी परिधि अत्यंत व्यापक है। रीति का सम्बन्ध जहां वाणी से ही है वहां इनका सम्बन्ध शारीरिक तथा मानसिक व्यापारो से भी है। अर्थ-वृत्ति का सम्बन्ध चरित्र-विधान तथा व्यक्तित्व-चित्रण से है : रीति वचन-रचना का प्रकार मात्र है। हां दोनों के मूल मे रसानुकूल्य का आधार होने के कारण रस के सम्बन्ध से उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थिर किया जा सकता है। इस दृष्टि से कैशिकी पांचाली के समानान्तर है, सात्वती और आरभटी गौडाया के, और भारती वदर्भी के—भरत ने यद्यपि केवल शब्द-वृत्ति मानते हुए उसका क्षेत्र अत्यत सीमित कर दिया है फिर भी परवर्ती आचार्यों ने उसकी सत्ता सर्वत्र मानी है : वृत्तिः सर्वत्र भारती (शारदातनय)।

वर्ण-वृत्ति : दूसरी वृत्तियों का—उपनागरिका, परुषा तथा कोमला का—रीतियों से इतना प्रत्यक्ष तथा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि प्रायः उनके विषय में भ्रान्ति हो जाती है। इस विषय में आचार्यों के तीन मत हैं :

(१) वृत्ति की सत्ता रीति से स्वतंत्र है। उद्भट ने केवल वर्ण-व्यवहार रूप वृत्तियों का ही विवेचन किया है। रुद्रट ने भी समास को आधार मानते हुए वृत्ति का रीति से ईषत् पृथक उल्लेख किया है। उधर आनन्दवर्धन तथा अभिनव में भी दोनों का पृथक वर्णन है—यद्यपि आगे चलकर आनन्दवर्धन ने वृत्ति को शब्द-व्यवहार मानकर वृत्ति और रीति की एकता स्वीकार करली है।

(२) मम्मट और उनके परवर्ती आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ आदि वृत्ति और रीति को एक ही मानते हैं। मम्मट ने तो उपनागरिका आदि वृत्तियों का विवेचन करने के उपरान्त स्पष्ट ही लिख दिया है कि इन्हें ही वैदर्भी आदि रीतियों के नाम से अभिहित किया जाता है। जगन्नाथ ने रीति और वृत्ति दोनों शब्दों का ही वैदर्भी आदि के लिए प्रयोग किया है।

(३) कुछ आचार्य वृत्ति को रीति का अंग मानते हैं : वृत्ति से उनका तात्पर्य वर्ण-गुम्फ का है और वर्ण-गुम्फ रीति के अनेक तत्वों में से एक है—अतएव वह उसका अंग है। वामन ने वृत्ति का कैशिकी आदि के अर्थ में ही उल्लेख किया है, अनुप्रास जाति के अर्थ में वृत्ति का प्रयोग उद्भट का आविष्कार है जिसे वामन ने ग्रहण नहीं किया। परन्तु उनके रीति-विवेचन से स्पष्ट है कि अनुप्रासजाति को वे रीति का एक बाह्य आधार-तत्व मानते हैं। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से वे वृत्ति को रीति का अंग मानते हैं। विश्वनाथ ने रीति के तीन तत्व माने हैं : रचना (शब्द-गुम्फ), समास, तथा वर्ण-संयोजना। अतएव उनके मत में भी वर्ण-संयोजना रूप वृत्ति सम्भवतः ही रीति का अंग है।

उपर्युक्त अभिमतों के परीक्षण के उपरांत यह परिणाम निकलता है कि यदि उद्भट का मत मान्य है और तदनुसार वृत्ति केवल वर्ण-गुम्फ का नाम है तब तो वह रीति का एक बाह्य आधार तत्व है, परन्तु यदि आनन्दवर्धन के अनुसार उसे शब्द-व्यवहार माना जाए तो फिर वह रीति का पर्याय मात्र है। उत्तर-ध्वनि काल के आचार्यों का यही मत रहा है। हमारा अपना विनम्र मंतव्य यह है कि वृत्ति शब्द की इस अर्थ में उद्भावना और उसका अंत तक प्रयोग उसके पृथक अस्तित्व के प्रमाण हैं। वह वर्ण-व्यवहार—आधुनिक शब्दावली में वर्ण-संयोजना—रूप है, और रीति का एक बाह्य अंग है। रीति के दो बाह्य तत्व हैं : (१) संघटना (शब्द-योजना, समास आदि) और (२) वर्ण-योजना जिसका दूसरा नाम है वृत्ति।

रीति और शैली : रीति का समानधर्मा अब केवल एक शब्द रह जाता है : शैली। वैसे तो यह शब्द अत्यंत प्राचीन है और इसकी व्युत्पत्ति शील से हुई है। शील का अर्थ है स्वभाव जो कुन्तक के मत में रीति का नियामक आधार है। जिस प्रकार स्वभाव की अभिव्यक्ति का मार्ग रीति है, उसी प्रकार शील (स्वभाव) की अभिव्यक्ति-पद्धति शैली भी है और उसके

व्युत्पत्ति अर्थ में भी वैयक्तिक तत्व मूलतः वर्तमान है। परन्तु फिर भी भारतीय काव्यशास्त्र में इसका प्रयोग प्रस्तुत अर्थ मे प्राय. नहीं हुआ। शास्त्र में यह शब्द व्याख्यान-पद्धति आदि के प्रसंग में ही प्रयुक्त हुआ है: यथा— 'प्रायेण आचार्याणामियं शैली यत् सामान्येनाभिधाय विशेषेण विवृणोति। (कुल्लूक भट्ट की टीका—मनुस्मृति १।४। : बल्देव उपाध्याय—भारतीय सा० शा० से उद्धृत)। अभिव्यक्ति की पद्धति के अर्थ में शैली का प्रयोग आधुनिक ही है जो अंगरेज़ी के स्टाइल शब्द का पर्याय है।

विशिष्ट अर्थ में रीति और शैली में बहुत अंतर नहीं है। शैली की अनेक परिभाषाएं की गई हैं। शैली विचारों का परिधान है। शैली उपयुक्त शब्दावली का प्रयोग है। अभिव्यक्ति की रीति का नाम शैली है। शैली भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग है। शैली ही व्यक्ति है, इत्यादि।

शैली के दो मूलतत्व हैं: एक व्यक्ति-तत्व, और दूसरा वस्तु तत्व।

यूरोप के काव्य-शास्त्र में इन दोनों तत्वों का विस्तृत विवेचन किया गया है। यूनानी आचार्यों के उपरांत रोम के, और उनके उपरांत फ्रांस, इंगलैंड आदि के अनेक काव्य-शास्त्रियों ने शैली के वस्तु-तत्व का सम्यक् विवेचन किया है। अब रह जाता है शैली का वैयक्तिक तत्व। वास्तव में शैली के व्यक्ति-तत्व और वस्तु-तत्व में व्यक्ति-तत्व ही प्रधान है: उसी के द्वारा शैलीकार शैली के बाह्य उपकरणों का समन्वय—अनेकता में एकता की स्थापना करता है। वैयक्तिक तत्व के दो रूप हैं: एक तो शैली द्वारा कवि की आत्माभिव्यजना—अर्थात् शैली का आत्माभिव्यंजक रूप और दूसरा पात्र तथा परिस्थिति के साथ शैली का सामंजस्य। भारतीय रीति-विवेचन में पहला रूप विरल है। परन्तु इस प्रसग में एक बात याद रखनी चाहिए: इसमें संदेह नहीं कि उसे वाछित महत्व नहीं दिया गया फिर भी उसकी स्वीकृति का सर्वथा अभाव नहीं है। दण्डी ने काव्य-मार्ग को प्रतिकविस्थित माना है और कुन्तक ने तो कवि-स्वभाव को ही शैली का मूल आधार माना है। उनके उपरान्त शारदातनय आदि ने भी 'पुंसि पुंसि विशेषेण कापि कापि सरस्वती' कह कर व्यक्ति-तत्व को स्वीकृति दी है। वैयक्तिक तत्व के दूसरे रूप का विधान तो भारतीय यशास्त्र में निश्चय ही मिलता है। यद्यपि वामन ने इसका स्पष्टीकरण नहीं ...ा किन्तु वामन से पूर्व भरत ने स्पष्ट निर्णय दिया है कि नाटक में भाषा

पात्र के शील-स्वभाव की अनुवर्तिनी होनी चाहिए। उधर आनन्दवर्धन ने तो वक्ता, वाच्य और विषय के औचित्य को रीतियों का नियामक ही माना है।

अब प्रश्न यह है कि क्या शैली और रीति पर्याय शब्द हैं। अथवा उनमें अन्तर है। डा० सुशीलकुमार डे ने उनको एक मानने के विरुद्ध चेतावनी दी है। उनका कहना है कि रीति में व्यक्ति-तत्व का अभाव है, और व्यक्ति-तत्व शैली का मूल आधार है अतएव दोनों को एक मानना भ्रान्ति है। हिन्दी के विद्वानों ने भी उनके आधार पर इन दोनों का भेद स्वीकार किया है। जहां तक शैली के वस्तु-रूप का सम्बन्ध है, वहां तक तो रीति से उसका पार्थक्य करना अनावश्यक है। जैसा मैंने रीतिकाव्य की भूमिका में स्पष्ट किया है, यूरोप के आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट शैली के तत्त्व नामान्तर से रीति के तत्वों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं—अथवा रीति के तत्वों का उपर्युक्त शैली-तत्वों में अन्तर्भाव हो जाता है। लय, स्वर-लालित्य आदि कला तत्त्व वर्ण-गुम्फ और शब्द-गुम्फ के अन्तर्गत आ जाते हैं, बौद्धिक तत्त्वों का समावेश अर्थव्यक्ति प्रसादादि गुणों और कतिपय अर्थालङ्कारों के अन्तर्गत हो जाता है, और रागात्मक तत्व रस (कान्ति-गुण) माधुर्य और ओज गुणों में अन्तर्भूत हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में वस्तु-तत्त्व शैली और रीति दोनों के सर्वथा समान हैं—केवल नाम-भेद है। व्यक्ति-तत्व के सम्बन्ध में भी दोनों में इतना भेद नहीं है जितना कि डा० डे ने माना है : रीति पर व्यक्तित्व का प्रभाव दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों तथा कुन्तक, शारदातनय आदि नवीन आचार्यों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। कुन्तक का विवेचन तो सर्वथा आधुनिक ही प्रतीत होता है—वे तो यूरोप के रोमांटिक आलोचकों की भाँति ही स्वभाव पर बल देते हैं। यूरोप में भी पुनर्जागरण काल और विशेषरूप से रोमांटिक युग के बाद ही व्यक्तित्व को यह उभार मिला है। यूनान और रोम के—बाद में इटली और फ्रांस के आलोचकों ने तो प्रायः शैली के वस्तु-तत्त्व पर ही बल दिया है।

उपर्युक्त विवेचन के परिणाम इस प्रकार हैं :

(१) रीति और शैली का वस्तु-रूप एक ही है। आरम्भ में भारत और यूरोप दोनों के काव्य-शास्त्रों मे प्रायः वस्तु-रूप का ही विवेचन हुआ है।

(२) भारतीय रीति मे व्यक्ति-तत्व की सर्वथा अस्वीकृति नहीं है, जैसा कि डा० डे आदि ने माना है।

(३) फिर भी अपने वर्तमान रुप में शैली में व्यक्ति-तत्व का जितना महत्त्व है, उतना भारतीय रीति में कभी नही रहा। विधान रूप में उसमें वस्तु-तत्त्व का ही प्राधान्य रहा है। वामन की दृष्टि तो वस्तु-परक है ही आनन्दवर्धन जैसे सर्वमान्य आलोचकों ने भी—जिन्होंने व्यक्ति की सता को उचित स्वीकृति दी है, रीति के स्वरुप में व्यक्ति-तत्त्व का प्रभाव अत्यन्त संयत मात्रा में ही माना है।

(४) इस प्रकार रीति और शैली के वर्तमान रूप में व्यक्ति-तत्त्व की मात्रा का अन्तर अवश्य हो गया है। कम से कम 'शैली ही व्यक्ति है' की भाँन्ति भारतीय रीति व्यक्ति से एकाकार नहीं हो पाई। इस सम्बन्ध में कुन्तक जैसे आचार्य की एक आध उक्ति को अपवाद ही मानना चाहिये।

गुण-विवेचन

गुण की परिभाषा : वामन से पूर्व भरत और दण्डी ने दश गुणों का सांगोपांग वर्णन तो किया है, परन्तु परिभाषा नहीं की।

भरत :—भरत ने गुणों को भावात्मक तत्व न मान कर अभावात्मक—अर्थात् दोषों का विपर्यय माना है : गुण विपर्ययाद् ऐषाम् माधुर्यौदार्यलक्षणाः। (नाट्यशास्त्र, काव्यमाला १६।९१)—अथवा एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः। (नाट्यशास्त्र-चौखम्बा—१७।९२०)। विपर्यय का वास्तविक अर्थ क्या है इस विषय में आचार्यों में मतभेद रहा है। इस शब्द के तीन अर्थ किये गये हैं : अभाव, अन्यथा भाव और वैपरीत्य। अभिनवगुप्त ने विघात या अभाव को ही ग्रहण किया है। उनके अनुसार भरत का मत है कि दोष का अभाव गुण है। उत्तरध्वनि काल के आचार्यों ने भी दोष के अभाव को गुण (सद्गुण) माना है : महान् निर्दोषता गुणः। परन्तु फिर भी भरत के गुण-विवेचन से यह सिद्ध नहीं होता कि उनके सभी गुणों की स्थिति अभावात्मक है। उनके लक्षणों से स्पष्ट है कि कुछ गुणों को छोड़कर शेष सभी की स्थिति निश्चय ही भावात्मक है। उदाहरण के लिए समता की स्थिति अवश्य ही अभावात्मक है, परन्तु उदारता, सौकुमार्य, ओजस् आदि गुण जिनमें दिव्यभाव, सुकुमार अर्थ, और शब्दार्थ-सम्पत्ति आदि का निश्चित रूप से सद्भाव रहता है अभावात्मक कैसे हो सकते हैं? अन्यथाभाव और वैपरीत्य की स्थिति विलोम रूप से भावात्मक हो जाती है—धन का सद्भाव भावात्मक स्थिति है, धन का अभाव अभावात्मक है, परन्तु ऋण का सद्भाव पुनः भावात्मक स्थिति है क्योंकि ऋण के अभाव-रूप में उसकी अभावात्मक स्थिति भी

होती है। इसलिए विपर्यय का अर्थ वैपरीत्य ही मानना संगत है—भरत ने दोषों का विवेचन पहले किया है अतएव उसी क्रम में दोषों के सम्बन्ध से—उनके विपर्यय रुप में—उन्होंने गुणों का भी विवेचन किया है। और, जैसा कि जैकोबी ने समाधान किया है, यह क्रम सामान्य व्यवहार-दृष्टि से रखा गया है जिसके अनुसार मनुष्य के दोष अधिक स्पष्ट रहते हैं—और गुणों की कल्पना हम प्रायः उन सहज-ग्राह्य दोषों के निषेध (अभाव अथवा विपर्यय) रूप में ही करते है।

अतएव हमारा निष्कर्ष यह है कि भरत ने गुण को दोष का वैपरीत्य ही माना है, परन्तु, (जैसा कि भिन्न मत रखते हुए भी एक स्थान पर डा० लाहिरी ने संकेत किया है,) निर्दिष्ट दश गुण पूर्व-विवेचित दश दोषों के ही क्रमशः विपरीत रूप नहीं हैं : यह तो उनके नामकरण से ही स्पष्ट है। अर्थात् यह वैपरीत्य सामान्य है, विशिष्ट नहीं है।

इसके अतिरिक्त भरत के अनुसार. लक्षण (काव्य-बन्ध) तथा अलंकार की भाँति गुण की भी सार्थकता यही है कि वह वाचिक अभिनय को प्रभावशाली बनाता है। नाटक में जो वाचिक अभिनय है काव्य में वही काव्य भाषा या शैली है, इस प्रकार काव्य के प्रसंग में गुण का कार्य है काव्य-शैली को समृद्ध करना—प्रभावशाली बनाना।

भरत ने नाटक का और उपचार से काव्य का मूल तत्व रस माना है—वाचिकाभिनय रस का साधन है अतएव रस के अधीनस्थ है, और उपर्युक्त गुण आदि तत्व भी जो वाचिकाभिनय के चमत्कार के अंग है, परम्परा-सम्बन्ध से रस के अधीनस्थ हैं।

उपर्युक्त विवेचन के सार रूप हम भरत के अनुसार गुण का लक्षण इस प्रकार कर सकते हैं :

दोषों के विपर्यय (वैपरीत्य) रूप गुण काव्य-शैली को समृद्ध करने वाले तत्व हैं जो परम्परा-सम्बन्ध से रस के आश्रित रहते हैं।

दण्डी :— दण्डी ने भा दशगुणों का विवेचन तो विस्तार से किया है, किन्तु गुण का सामान्य लक्षण नहीं किया। तथापि उनके दो श्लोक ऐसे हैं जिनसे यह निष्कर्ष निकालने में कठिनाई नहीं होती कि गुण के स्वरूप के विषय में उनकी धारणा क्या थी।

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते, कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति ॥२,१॥
काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः
साधारणमलंकारजातमन्यत् प्रदर्श्यते ॥२,३॥

(काव्यादर्श)

काव्य के शोभाकारक धर्म अलंकार कहलाते हैं—उनकी कल्पना अब भी बराबर हो रही है। उनका समग्र रूप में वर्णन कौन कर सकता है?

(इससे) पूर्व भी मार्गों का विभाग करने के लिए कुछ अलंकारों[1] का वर्णन किया जा चुका है। (अब) साधारण अलंकारों का वर्णन किया जाता है।

उपर्युक्त श्लोकों का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है:

काव्य के शोभा-विधायक सभी धर्म अलंकार कहलाते हैं—उनकी संख्या नित्य वर्धमान है—वे असंख्य हो सकते हैं।

उपमा रूपक आदि प्रसिद्ध अलंकारों को दण्डी ने 'साधारण अलंकार' कहा है।

इन साधारण अलंकारों के अतिरिक्त अन्य सभी सौन्दर्य-विधायक तत्व भी अलंकार ही हैं।

मार्ग-विभाजन के आधारभूत दश गुण भी अलंक्रिया अथवा अलंकार ही हैं।

अतएव (१) दण्डी के अनुसार गुण भी एक प्रकार के अलंकार—अर्थात् काव्य-शोभा-विधायक धर्म हैं: शोभाकरत्वं हि अलंकारलक्षणं, तल्लक्षणयोगात् तेऽपि (श्लेषादयो दशगुणा अपि) अलंकाराः (तरुणवाचस्पति)।

(२) ये काव्य के स्वतंत्र अंग हैं—रस के आश्रित नहीं हैं, अर्थात् इनके द्वारा काव्य का सीधा उपकार होता है रस के आश्रय से नहीं। दण्डी

---

१ दण्डी के टीकाकारों ने इनका अर्थ अनुप्रास आदि शब्दालंकार किया है—परन्तु डा० लाहरी इनसे गुणों का आशय ग्रहण करते हैं। हमको डा० लाहरी का ही मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

ने काव्य को इष्टार्थवाचक पदावली माना है—अतएव काव्य-शोभा का अर्थ हुआ शब्दार्थ की शोभा और उसके विधायक गुणों का सम्बन्ध सीधा शब्दार्थ से हुआ।

वामन .— गुण का लक्षण सबसे पहले वामन ने किया है . 'काव्य के शोभाकारक धर्म गुण कहलाते हैं। शब्द और अर्थ के वे धर्म जो काव्य को शोभा-सम्पन्न करत हैं गुण कहलाते हैं। वे हैं ओज, प्रसादादि—यमक उपमादि नहीं क्यो कि यमक उपमादि अलंकार, अकेले, काव्य-शोभा की सृष्टि नहीं कर सकते। इसके विपरीत ओज प्रसादादि अकेले ही काव्य को शोभा-सम्पन्न कर सकते है। + + + +

गुण नित्य है—उनके बिना काव्य में शोभा नहीं आ सकती।

(काव्यालकारसूत्र ३,१)

अर्थात्

(१) गुण शब्द और अर्थ के धर्म हैं।

(२) वे काव्य के मूल शोभाधायक तत्व हैं।

(३) वे काव्य के काव्यत्व के लिए अनिवार्य हैं। उनके बिना काव्य काव्य-पद का अधिकारी नहीं होता।

इसके अतिरिक्त (४) भरत के प्रतिकूल तथा दण्डी के अनुकूल वामन गुणों को रस के धर्म न मानकर शब्दार्थ के ही धर्म मानते हुए काव्य में उनको स्वतन्त्र तथा प्रमुख सत्ता मानते हैं।—गुण रस के आश्रित नहीं है वरन् कान्ति गुण का अंग होने के कारण रस ही गुण का अंग है :— दीप्तरसत्व कातिः।

ध्वनिकार तथा उनके अनुयायी : ध्वनिकार ने गुणों का स्वतन्त्र अस्तित्व न मानकर उन्हे रस के आश्रित माना है। उन्होंने गुण का लक्षण इस प्रकार किया है : "तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृता.।" अर्थात् जो प्रधानभूत (रस) अगो के आश्रित रहने वाले हैं उनको गुण कहते हैं। इस प्रकार ध्वनिकार ने उन्हें आत्मभूत रस के धर्म माना है शरीरभूत शब्दार्थ के नहीं।

ध्वनिकार के उपरान्त प्राय. उन्हीं का मत मान्य रहा। मम्मट ने उनके लक्षण को और स्पष्ट करते हुए लिखा है :

ये रसस्यांगिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मनः
उत्कर्षहेतवः ते स्युः अचलस्थितयो गुणाः ॥

(काव्यप्रकाश)

आत्मा के शौर्यादि (गुणों) की भाँति अंगीभूत रस के उत्कर्षकारी अचलस्थिति धर्म गुण कहलाते हैं। अर्थात्

(१) गुण रस के धर्म हैं।

(२) वे अचलस्थिति अथवा नित्य हैं।

(३) वे रस का उत्कर्ष करते हैं।

विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने प्रायः इसी लक्षण को प्रकारान्तर से दुहराया है। केवल पण्डितराज जगन्नाथ ने गुण को रसधर्म मात्र मानने में आपत्ति की है। उनका तर्क है कि काव्य का आत्मन् होने के कारण रस तो गुणशून्य हुआ—उसका धर्म अथवा गुण कैसा? (परमात्मा गुणशून्य एवेति मायावादिनो मन्यन्ते।) अतएव गुण शब्दार्थ का धर्म है। परन्तु आगे चलकर उनके विवेचन में शब्द-अर्थ के साथ साथ रस को भी गुण का आधार माना गया है जिससे गुण का रसधर्मत्व फिर स्थापित हो जाता है। और वास्तव में अन्ततोगत्वा पण्डितराज ने इसका निषेध नहीं किया।—ध्वनि की मान्यता स्वीकार कर लेने पर वह सम्भव भी नहीं था।...

निष्कर्ष यह है कि गुण काव्य के उत्कर्ष-साधक तत्व हैं इस विषय में सबकी पूर्ण सहमति है। परन्तु वामन आदि पूर्व-ध्वनि काल के आचार्यों ने उन्हें शब्दार्थ के धर्म माना है जिनकी सत्ता स्वतन्त्र है—रस कान्ति का अंग होने के नाते गुण का अंग है, गुण रस के आश्रित अथवा रस के धर्म नहीं हैं। अर्थात् वे शब्दार्थ रूप काव्य का साक्षात् उपकार करते हैं—रस के आश्रय से नहीं। इसके विपरीत उत्त-रध्वनि काल के आचार्य उन्हें प्राण रूप रस के धर्म मानते हैं—शरीर-रूप शब्दार्थ के नहीं।—वे रस के आश्रय से ही काव्य की उत्कर्ष-साधना करते हैं। आगे चलकर गुण की यही परिभाषा सर्वमान्य हो गई और मम्मट ने उत्तर-ध्वनि काल के आचार्यों की गुण-विषयक धारणाओं को पारिभाषिक शब्दों में बांध दिया। गुणों का साक्षात् सम्बन्ध रस से ही स्थापित हो गया—शब्दार्थ के साथ उसका सम्बन्ध केवल औपचारिक ही माना गया। परन्तु इस विषय में स्थिति सर्वथा निर्भ्रान्त और संशय-

होन नहीं रही—जगन्नाथ ने तो स्पष्ट ही गुणों को शब्दार्थ के (कम से कम शब्दार्थ के भी) धर्म माना। मम्मट और विश्वनाथ ने भी माधुर्य तथा ओज आदि का वर्णों से स्पष्ट सम्बन्ध माना है—व्यंग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध भी एक प्रकार का घनिष्ठ सम्बन्ध है। माधुर्यादि के स्वरूप-निर्धारण में वर्ण-गुम्फ तथा शब्द-गुम्फ का आधार सदा ही निश्चय-पूर्वक ग्रहण किया गया है। अतएव मूलतः रस के साथ सम्बद्ध होते हुए भी गुण शब्दार्थ से सर्वथा असम्बद्ध नहीं है : उन्हें रस के धर्म तो मानना ही चाहिए, परन्तु साथ ही शब्दार्थ के धर्म मानने में भी आपत्ति नहीं करनी चाहिए। शौर्यादि की उपमा भी इस मन्तव्य को पुष्ट ही करती है क्योंकि इसमें सदेह नहीं कि वे मूलतः आत्मा के—अन्तरंग व्यक्तित्व के धर्म हैं—परन्तु बाह्य व्यक्तित्व से उनका कोई सम्बन्ध ही न हो यह भी नहीं माना जा सकता। मधुर व्यक्तित्व अथवा ओजस्वी व्यक्तित्व के लिए आत्मा के ही माधुर्य अथवा ओज की अपेक्षा नहीं होती आकृति के माधुर्य और तेज की भी आवश्यकता रहती है—केवल औपचारिक कह कर उसको टाल देना पर्याप्त नहीं है।

अतः गुण उन तत्वों को कहते हैं जो विशेषरूप से प्राणभूत रस के और समान्य रूप से शरीर-भूत शब्दार्थ के आश्रय से काव्य का उत्कर्ष करते हैं।

अथवा

गुण काव्य के उन उत्कर्ष-साधक तत्वों को कहते हैं जो मुख्य रूप से रस के और गौण रूप से शब्दार्थ के नित्य धर्म हैं।

गुण के आधार-तत्व

दण्डी और वामन आदि पूर्व-ध्वनि आचार्यों ने गुण को शब्द और अर्थ का धर्म माना है : उनके गुण-विवेचन से स्पष्ट है कि शब्द और अर्थ के चमत्कार (वर्ण-गुम्फ, शब्द-गुम्फ आदि शब्द-चमत्कार और उधर अग्राम्यत्व, अपारुष्य, रस आदि अनेक प्रकार के अर्थ-चमत्कार) गुण के आधार-तत्व हैं। इनके उपरान्त जब ध्वनिकार ने और उनके अनुयाइयों ने गुण को रसधर्म मान लिया तो स्वभावतः ही उसका स्वरूप सूक्ष्मतर हो गया : वह शब्द-चमत्कार या अर्थ-चमत्कार न रह कर 'चित्त-वृत्ति' माना गया। अभिनव,

मम्मट, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ ने उसे स्पष्ट शब्दों में चित्तवृत्ति रूप माना है : वर्णादि व्यंजक रूप में उसके आधार हैं।—जगन्नाथ ने, इससे भी अधिक, उन्हें प्रयोजन रूप माना है। रस-ध्वनिवादियों के अनुसार माधुर्यादि गुण द्रुति आदि चित्तवृत्तियों के तद्रूप ही है—उनका वास्तविक आधार रस ही है, परन्तु व्यंजक रूप में वर्ण-गुम्फ, समास तथा रचना आदि भी गुण के आधार है। जैसा कि मैंने अभी स्पष्ट किया है गुण रस और शब्दार्थ दोनों का ही धर्म है : रस का धर्म होने के नाते वह चित्तवृत्ति रूप है और शब्दार्थ का धर्म होने के नाते उसे वर्णगुम्फ और शब्द-गुम्फ पर आश्रित भी मानना पड़ेगा : गुण के स्वरूप निरुपण में वर्ण, समास आदि का अनिवार्य आधार इसका प्रमाण है। अतएव गुण अपने सूक्ष्म-रूप में चित्तवृत्ति रूप है और स्थूल अथवा मूर्तरूप में वर्ण-गुम्फ तथा शब्द-घटना रूप हैं, द्रुति, दीप्ति व्यापकत्व नामक चित्तवृत्ति उसका आंतर आधारतत्व है तथा वर्ण-गुम्फ और शब्द-गुम्फ वाह्य।

गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति

उपर्युक्त व्याख्या से गुण का लक्षण तो निर्धारित हो जाता है, परन्तु उसके वास्तविक स्वरूप का उद्घान पूर्णतः नहीं होता। उसके लिए गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति का स्पष्टोकरण आवश्यक है। आनन्दवर्धन ने तो केवल यही कहा है कि शृङ्गार, रौद्र आदि रसों में, जहां चित्त आह्लादित और दीप्त होता है, माधुर्य, ओज आदि गुण बसते हैं, परन्तु आह्लादन (द्रुति) और दीप्ति से गुणों का क्या सम्बन्ध है, यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। क्या माधुर्य और चित्त की द्रुति अथवा ओज और चित्त की दीप्ति परस्पर अभिन्न हैं अथवा उनमें कारण-कार्य सम्बन्ध है? इस समस्या को अभिनव ने सुलझाया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि गुण चित्त की अवस्था का ही नाम है। माधुर्य चित्त की द्रवित अवस्था है, ओज दीप्ति है और प्रसाद व्यापकत्व है। चित्त की यह द्रुति, दीप्ति अथवा व्याप्ति रस-परिपाक के साथ ही घटित होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि शृङ्गार रस की अनुभूति से चित्त में जो एक प्रकार की आर्द्रता का संचार होता है वही माधुर्य है, वीर रस के अनुभव से उसमें जो एक प्रकार की दीप्ति उत्पन्न होती है वही ओज है, और सभी रसों के अनुभव से चित्त में जो एक व्यापकत्व आता है वही प्रसाद है। इस प्रकार अभिनव

के अनुसार माधुर्य आदि गुण चित्त की द्रुति आदि अवस्थाओं से सर्वथा अभिन्न हैं और चूंकि ये अवस्थाएं रसानुभूति के कारण ही उत्पन्न होती है, अतएव रस को कारण और गुण को उसका कार्य कहा जा सकता है। कारण और कार्य में अन्तर होना अनिवार्य है, इसलिए रस और चित्त-द्रुति आदि के अनुभव में भी अन्तर अवश्य मानना होगा कम-से-कम काल-क्रम का अन्तर तो है ही। परन्तु चूंकि रस की पूर्ण स्थिति में दूसरे अनुभव के लिए स्थान नहीं रहता, अतएव चित्तद्रुति आदि का भी सहृदय को पृथक अनुभव नहीं रह पाता। वह रस के अनुभव में ही निमग्न हो जाता है। आनन्दवर्धन ने गुणों को रस के नित्य धर्म इसी दृष्टि से माना है।

अभिनव के उपरांत माधुर्य आदि गुणों को मम्मट ने रस के उत्कर्ष-वर्द्धक एवं अचल-स्थिति धर्म माना और उन्हें चित्त-द्रुति आदि का कारण माना। अभिनव ने रस को गुण का कारण माना था और गुण को चित्त-द्रुति आदि से अभिन्न स्वीकार किया था। मम्मट गुण को चित्त-द्रुति आदि का कारण मानते हैं। गुण का स्वरूप क्या है इस विषय में मम्मट ने कुछ प्रकाश नहीं डाला। मम्मट का प्रतिवाद विश्वनाथ ने किया। उन्होंने फिर अभिनव के मत की ही प्रतिष्ठा की। अर्थात् चित्त के द्रुति दीप्तत्व-रूप आनन्द को ही गुण माना। परन्तु उनका मत था कि 'द्रवीभाव या द्रुति आस्वाद-स्वरूप आह्लाद से अभिन्न होने के कारण कार्य नहीं है, जैसा कि अभिनव ने किसी अंश तक माना है। आस्वाद या आह्लाद रस के पर्याय हैं। द्रुति रस का ही स्वरूप है, उससे भिन्न नहीं है।' इस तरह विश्वनाथ ने एक प्रकार से गुण को रस से ही अभिन्न मान लिया है।

इन मान्यताओं को पण्डितराज जगन्नाथ ने चुनौती दी। सबसे पहले उन्होंने अभिनव गुप्त के तर्क का प्रतिवाद किया। अभिनव गुप्त के अनुसार एक ओर तो गुण रस के धर्म हैं और दूसरी ओर द्रुति आदि के तद्रूप होने के कारण रस के कार्य हैं—अतएव वे रस के धर्म और कार्य दोनों ही हैं। पंडित-राज की तार्किक बुद्धि ने इस मन्तव्य को असिद्ध घोषित किया क्यों कि धर्म और कार्य की स्थिति अभिन्न नहीं होती. उष्णता अनल का धर्म है, दाह कार्य है—उष्णता की स्थिति दाह के बिना भी सिद्ध है अतएव दोनों को अभिन्न नहीं माना जा सकता। ऐसी दशा में गुण रस का धर्म और कार्य कैसे हो सकता है? विश्वनाथ की स्थापना तो और भी असंगत है—यदि गुण रस से अभिन्न

है तो उसकी पृथक सत्ता क्यों मानी जाये ? पण्डितराज ने इन दोनों का खंडन करते हुए मम्मट के दृष्टिकोण को आंशिक रूप में स्वीकार किया। मम्मट ने गुण और चित्तवृत्ति को एक नहीं माना—उन्होंने गुण को कारण और चित्त-वृत्ति को कार्य माना है। जगन्नाथ इनमें प्रयोजक-प्रयोज्य सम्बन्ध मानते हैं : गुण प्रयोजक है और चित्तवृत्ति प्रयोज्य—प्रयोजक और प्रयोज्य सम्बन्ध से दोनों को एक भी माना जा सकता है : प्रयोजकता सम्बन्धेन द्रुत्यादिक्रम एव वा माधुर्यादिकमस्तु। रसगंगाधर पृ० ५१। यह विवेचन भी निर्भ्रान्त नहीं है। एक ओर तो पण्डितराज गुण को वस्तु रूप में ही रस और शब्दार्थ दोनों का धर्म मानते हैं और दूसरी ओर प्रयोजक-प्रयोज्य सम्बन्ध से उसे चित्तवृत्ति रूप भी मानते हैं। रसधर्म होने के नाते तो गुण चित्तवृत्ति रूप अवश्य हो सकता है। परन्तु शब्दार्थ का धर्म होने के नाते यह सम्भव नहीं है—क्योंकि द्रुति आदि चित्तवृत्तियों को आह्लादरूप रस मे तो स्थिति सम्भव है, परन्तु शब्द और अर्थ में उनकी अवस्थिति कैसे मानी जा सकती है ?

वास्तव में संस्कृत साहित्य-शास्त्र में गुण की स्थिति पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। काव्य में उसकी पृथक सत्ता स्वीकार करने में भी यत्किंचित सदेह अंत तक बना रहता है। फिर भी उसकी सत्ता निरपवाद रूप से मानी ही गई है और उसका एक साथ निषेध करना अधिक संगत न होगा।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो रस और गुण दोनों ही मन:स्थितियां हैं (इस विषय में अभिनव, मम्मट आदि सभी सहमत हैं)। रस वह आनन्द रूपी मन:स्थिति है, जिसमें हमारी सभी वृत्तियां अन्वित हो जाती हैं और यह स्थिति अखण्ड है। उधर गुण भी मन:स्थिति है, जिसमें कहीं चित्त-वृत्तियां द्रवित हो जाती हैं, कहीं दीप्त और कहीं परिव्याप्त। यहां तक तो कोई कठिनाई नहीं है। यह भी ठीक है कि विशेष भावों में और विशेष शब्दों में भी चित्त-वृत्तियों को द्रवित अथवा दीप्त करने की शक्ति होती है। उदाहरण के लिए मधुर वर्णों को सुनकर और प्रेम, करुणा आदि भावों को ग्रहण कर हमारे चित्त में एक प्रकार का विकार पैदा हो जाता है, जिसे तरलता के कारण द्रुति कहते हैं। और महाप्राण वर्णों को सुनकर एवं वीर और रौद्र आदि भावों को ग्रहण कर हमारे चित्त में दूसरे प्रकार का विकार हो जाता है जिसे विस्तार के कारण दीप्ति कहते हैं। परन्तु इन विकारों को पूर्णत: आह्लाद रूप नहीं कह सकते। यहां काव्य (वस्तु) भावकत्व की स्थिति को पार करके भोजकत्व की ओर बढ़

मम्मट ने इसी को स्पष्ट करते हुए लिखा है :

आत्मा के शौर्यादि गुणों की भाँति जो अगभूत रस के उत्कर्षवर्धक अचल-स्थिति धर्म हैं वे गुण कहलाते हैं।

इसके विपरीत अलंकार शब्द अर्थ के धर्म है और वे अचल-स्थिति नहीं है : सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। —काव्य के लिए सगुणता अनिवार्य है, परन्तु अलंकृति कभी नहीं भी होती।

विश्वनाथ ने अलंकार की परिभाषा में ही यह भेद निहित कर दिया— "शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः—अलंकार शब्द-अर्थ के शोभातिशायी अस्थिर धर्म हैं।" गुण के समान उनकी स्थिति आवश्यक नहीं है : अस्थिरा इति नैषां गुणवदावश्यकी स्थितिः (सा० दर्पण)।

अतएव रस-ध्वनिवादियों के अनुसार गुण और अलंकार का भेद इस प्रकार है :

(१) गुण प्राणभूत रस के धर्म हैं, अलंकार अंगभूत शब्द-अर्थ के।

(२) स्वभावतः गुण काव्य के आंतरिक तत्व हैं—वे द्रुति, दीप्ति आदि चित्तवृत्तियों के तद्रूप हैं, अलंकार बाह्य तत्व हैं।

(३) रसानुभूति की प्रक्रिया में गुणों का योग प्रत्यक्ष रहता है। अलंकारों का अप्रत्यक्ष, वे वाच्य-वाचक का उपकार करते हुए व्यंग्य रस के परिपाक में योग देते हैं।

(४) अतएव गुण काव्य के नित्य धर्म हैं, अलंकार अनित्य।

(५) रसादि अंतर्तत्वों की भांति गुण व्यंग्य रहते हैं, अलंकार वाच्य।

साधारणतः रस-ध्वनिवादियों का यह विवेचन ही मान्य रहा और वास्तव में यही संगत भी है यद्यपि इसमें थोड़ा अतिवाद अवश्य है। वह अतिवाद यह है कि इन्होंने गुण को सिद्धान्त में एकान्त रसधर्म मान लिया है। परन्तु जैसा कि हमने अन्यत्र सिद्ध किया है, और व्यवहार में रस-ध्वनिवादियों ने भी माना है, गुण शब्द और अर्थ से सर्वथा असम्बद्ध नहीं हैं। इसी प्रकार अलंकार भी मूलतः वाचक शब्द और वाच्य अर्थ के धर्म होते हुये भी व्यंग्य अर्थ से सर्वथा असम्बद्ध नहीं होते। गुण चित्तवृत्ति रूप हैं, अलंकार वाणी के

प्रसाधन हैं अर्थात् अभिव्यंजना को प्रभावशाली बनाने के उपकरण हैं। परन्तु मूलतः चित्तवृत्ति रूप होने पर भी जिस प्रकार गुण गौण रूप में शब्द और अर्थ : वर्ण-गुम्फ और शब्द-गुम्फ, से भी सम्बन्ध रखते हैं इसी प्रकार मुख्य रूप में शब्द और अर्थ के धर्म—अभिव्यंजना के चमत्कार—होते हुए भी अलंकार गौण रूप में चित्त को भी चमत्कृत करते हैं। आंतरिक और बाह्य तत्व की यही सापेक्षिक प्रमुखता गुण और अलंकार का मुख्य अंतर है—गुण मूलतः काव्य के आंतरिक तत्व हैं, और अलंकार बाह्य।

दोष-दर्शन

दोषों का वर्णन संस्कृत साहित्य-शास्त्र में आरम्भ से ही मिलता है और आचार्यों ने प्रायः दोष-विवेचन पहले किया है, गुण-अलंकार-वर्णन बाद में। यह मानव-स्वभाव की सहज प्रवृत्ति का ही परिणाम है, इसीलिए आदि वैदिक ऋषि ने अपनी प्रार्थना में दुरित के परिहार की वांछा पहले की है और भद्र की कामना बाद में—विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव—यद्भद्रं तन्न आसुव। भारतीय काव्य-शास्त्र में भी दोष-वर्णन इतने आग्रह के साथ इसीलिए किया गया है क्योंकि दोष-परिहार को काव्य की पहली शर्त माना गया है। दण्डी ने प्रबल शब्दों में घोषणा की है कि काव्य में रंचमात्र दोष की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए क्योंकि एक छोटा सा भी कुष्ट का दाग़ सुन्दर से सुन्दर शरीर को कुरूप कर सकता है। (काव्यादर्श, १,७)। प्राचीन आचार्यों ने ही नहीं, उत्तर-ध्वनिकाल के आचार्यों ने भी निर्दोषता को काव्य-लक्षण का अनिवार्य अंग माना है। पूर्व-ध्वनिकाल से वामन और उत्तर-ध्वनिकाल से मम्मट का काव्य-लक्षण उदाहरण-रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। निर्दोषता को अपने आप में एक महान गुण माना गया है · महान् निर्दोषता गुणः। काव्य के लिए निर्दोषता की अपेक्षा अधिक है अथवा रसवत्ता की? दोनों मे से कौनसा काव्य के लिए अनिवार्य है? या मनुष्य अथवा काव्य में निर्दोषता कहां तक सम्भव है? ये विवादास्पद प्रश्न है जिनका समाधान अन्यत्र किया जाएगा। परन्तु दोष का विवेचन काव्यशास्त्र का—विशेष कर रीति-सिद्धात का—अत्यंत महत्वपूर्ण अंग है, इसमे सदेह नहीं। काव्य के सौदर्य-असौंदर्य अथवा प्रभाव का विश्लेषण करने के लिये दोष-दर्शन सर्वथा अनिवार्य है।

यहां एक प्रश्न उठ सकता है—मेरे मन में भी उठा है। वैदर्भी और गौड़ी ही अलं क्यों नहीं है—क्या पांचाली की कल्पना भी अनावश्यक नहीं है? इसका उत्तर यह है कि वैदर्भी में पांचाली का यदि अंतर्भाव मान लिया जाता है तो फिर गौड़ी भी उसकी परिधि से बाहर नहीं पड़ती क्यों कि समग्रगुणसम्पदा से अलंकृत वैदर्भी में जिस प्रकार माधुर्य और सौकुमार्य का समावेश रहता है, उसी प्रकार ओज और कांति का भी। अतएव वैदर्भी गौडी की विपरीत रीति नहीं —गौडी की विपरीत रीति पांचाली ही है। जिस प्रकार मानव-स्वभाव के दो छोर हैं नारीत्व और पुरुषत्व, इसी प्रकार अभिव्यंजना के भी दो छोर हैं स्त्रैण पांचाली और परुषा गौडी। नारीत्व की अभिव्यंजक पांचाली, और पुरुषत्व की अभिव्यंजक गौडी—इनके अतिरिक्त इन दोनों के समन्वय से समृद्ध व्यक्तित्व की माध्यम वैदर्भी। बस प्रकार वामन ने पांचाली की उद्भावना द्वारा वास्तव में एक अभाव अथवा असंगति का ही निराकरण किया है, अनावश्यक नवीनता का प्रदर्शन नहीं।

मम्मट के आधार पर भी यदि इस प्रश्न पर विचार किया जाए तो भी रीतियों या वृत्तियों की संख्या तीन ही ठीक बैठती है: माधुर्यगुण-विशिष्ट उपनागरिका और ओजोमयी परुषा क्रमशः द्रवणशील मधुर स्वभाव और दीप्तिमय ओजस्वी स्वभाव की प्रतीक हैं। मधुर और ओजस्वी के अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार का भी स्वभाव होता है जिसमें न माधुर्य का अतिरेक होता है और न ओज का—वरन् इन दोनों का संतुलन रहता है। इसको सामान्य (नार्मल) या स्वस्थ-प्रसन्न (विशद) स्वभाव कह सकते हैं। मानव-स्वभाव का यह भेद भी इतना ही स्पष्ट है जितने कि मधुर और ओजस्वी। अतएव इसकी अभिव्यंजक कोमला रीति या वृत्ति का अस्तित्व भी मानना उचित ही है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में रीति

भारतीय काव्यशास्त्र तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र में विचित्र साम्य है और यह साम्य केवल मूल सिद्धान्तों में ही नहीं है, रूप-भेदों में भी है। भारतीय रीति और पाश्चात्य शैली-विवेचन की पारस्परिक समानता तो वास्तव में आश्चर्यजनक है। यूरोप में शैली का प्रारम्भिक विवेचन और विकास बहुत कुछ उसी पद्धति पर हुआ है जिस पर भारतीय रीति का—अथवा कालक्रमानुसार यह कहना संगत होगा कि भारतीय रीति-निरूपण प्रायः उसी पद्धति पर हुआ है जिस पर यूरोप में यूनानी और रोमी आचार्यों का शैली-विवेचन, क्योंकि यूनानी तथा कतिपय रोमी आचार्य भारत के काव्याचार्यों के पूर्ववर्ती हैं इसमें सदेह नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह साम्य पारस्परिक सम्पर्क अथवा प्रभाव का द्योतक नहीं है—मानव-चिंतन की मूलभूत एकता का द्योतक यह साम्य बहुत कुछ आकस्मिक ही था।

यूरोपीय आलोचना के उदय-युग के तीन चरण हैं :

१. यूनानी व्यग्य नाटकों में प्राप्त सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक आलोचना—इस दृष्टि से ऐरिस्टोफ़ेनीस का नाटक 'फ़ाग्स' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। २. यूनानी दार्शनिकों का सौन्दर्य-विवेचन। २. यूनानी-रोमी रीति-शास्त्रियों का रीति-विवेचन।

एरिस्टोफ़ेनीस ने 'फ़ाग्स' नामक व्यंग्य-नाटक मे अपने युग के नाट्यकारों तथा उनकी शैली आदि का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया है। उन्होंने यूरिपाइडीज़ और ऐसकाइलस नामक प्रसिद्ध नाट्यकारों के विवाद द्वारा अपने युग में प्रचलित दो विरोधी काव्य-शैलियों का अत्यन्त स्पष्ट

निर्देश किया है। यूरिपाइडीज़ सरल और सहज शैली का समर्थक है। वह एक ओर सहज मानवीय[1] भाषा और वाणी की स्वाभाविक[2] स्वतंत्रता का प्रबल पक्षपाती है, दूसरी ओर कृत्रिम गर्जन[3]-तर्जन तथा शब्दाडम्बर का घोर विरोधी। इसके विपरीत ऐसकाइलस उदात्त शैली को महत्व देता है—वह इस कथित सहजता को निस्सार मानता है। उसकी मान्यता है कि विषय-वस्तु[4] तथा भाव के गौरव के साथ भाषा भी अनिवार्यतः गौरव-सम्पन्न हो जाती है। इस प्रकार यूरोपीय साहित्य-शास्त्र के आदिम काल में ही इन दो परस्पर-विरोधी शैलियों का अन्तर स्पष्ट हो गया था: वहां भी भारतीय वैदर्भी और गौड़ी के समान दो काव्य-रीतियाँ आरम्भ से ही प्रचलित तथा स्वीकृत थीं।

प्लेटो

व्यंग्य-नाटकों के उपरान्त यवन दार्शनिकों के ग्रंथों में प्रसंगानुसार काव्यालोचन की झाँकियां मिलती हैं। प्लेटो तथा अरस्तू आदि ने शैली को तत्व रूप में प्रायः हेय ही माना है, परन्तु व्यवहार रूप में उन्होंने भी प्रस्तुत विषय पर अत्यन्त महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं—अरस्तू ने तो रीतिशास्त्र (रूहैटरिक) नाम से एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिखा है। प्लेटो ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ गणराज्य (रिपब्लिक) में काव्यभाषा (शैली) का विवेचन इस प्रकार किया है: 'काव्य-भाषा (शैली) के ये दो भेद हैं। + + + इनमें से पहली में कोई बड़ा उतार-चढाव नहीं होता। भाषा के अनुकूल संगीत तथा लय का माध्यम प्राप्त हो जाने पर वह समगति से चलती रहती है।

तो फिर दूसरी का क्या स्वरूप है? क्या उसे सर्वथा विपरीत माध्यम की अपेक्षा नहीं होती? सभी राग और सभी लयें उसके लिए अपेक्षित होती हैं—क्यों कि उसमें अत्यधिक परिवर्तन होते रहते हैं।+ + +

---

१ Oh let us atleast use the language of men! (यूरिपाइडीज)
२ Next I taught all the town to talk with freedom (")
३ I never crashed and lightened. (")
४ When the subject is great and the sentiment, then, of necessity, great grows the word (ऐसकाइलस)

ही है। इस प्रकार भारतीय तथा यूनानी-रोमी रीतिशास्त्रों में शैलियों के वर्गीकरण का आधार ही नहीं वरन् उनके तत्वों का विश्लेषण भी बहुत कुछ समान है।

डिमैट्रियस

अरस्तू सिसरो तथा डायोनीसियस की रीति-परम्परा को डिमैट्रियस तथा क्विन्टीलियन ने और आगे बढाया। डिमैट्रियस ने शैली पर एक स्वतन्त्र रीति-ग्रन्थ ही लिखा है। उन्होंने शैली की कोई औपचारिक परिभाषा नहीं की। अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति वे भी शैली को लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति और व्यक्ति-तत्व को शैली की आत्मा मानते हैं, परन्तु इसके साथ ही वे कुछ ऐसे निर्देशक सिद्धान्तों तथा नियमों का अस्तित्व भी स्वीकार करते हैं जो कलात्मक रचना (रीति) में सहायक होते हैं। इसी प्रकार वे यह भी स्वीकार करते हैं कि वस्तु-विषय शैली का प्रमुख नियामक तत्व है—किन्तु साथ ही उसको प्रस्तुत करने के ढंग पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है।

डिमैट्रियस ने शैली के चार प्रकार माने हैं :

उदात्त[1], मधुर या मसृण[2], प्रसादमय[3] और ओजस्वी[4]। इनमें पहले तीन तो सिसरो तथा डायोनीसियस द्वारा प्रतिपादित शैली-भेद ही हैं—ओजस्वी इन्होंने अपनी ओर से और जोड़ दिया है। परन्तु वह भी इनकी अपनी उद्भावना नहीं है—इनसे पूर्व फ़िलोडैमस उपर्युक्त तीन भेदों के अतिरिक्त एक चौथे भेद 'प्रबल[5]' का उल्लेख कर चुके थे।

डेमैट्रियस के अनुसार उदात्त शैली का मूल तत्व है असामान्यता क्यों कि उनका मत है कि 'प्रत्येक सामान्य वस्तु प्रभावहीन होती है।' उदात्त शैली के तत्व इस प्रकार हैं : विशिष्ट तथा विचित्र शब्दावली, समास, अलंकार, काव्य-रूढ भाषा का बहुधा प्रयोग। उसकी पदावली उल्बण होती है, मसृण और कोमल के लिए उसमें अधिक अवकाश नहीं होता।

---

१ ऐलीवेटेड २ एलीगेन्ट (माक्सन ने इसे पालिश्ड कहा है।) ३ प्लेन
४ फोर्सीवल ५ वैहैमैंट

उसको वर्ण-योजना प्रगाढ होती है जिसके आरम्भ में तथा अंत में गुरु वर्णों का प्रयोग रहता है क्यों कि इस प्रकार प्रयुक्त गुरु वर्णों में प्रायः विस्फोट का प्रभाव होता है। इस शैली की पद-रचना में क्रमिक आरोह रहता है और रूपक, पर्यायोक्ति तथा [1]अन्योक्ति-रूपक आदि अलंकारों का सयत्न प्रयोग होता है : रूपकों से शैली में गरिमा और रमणीयता का समावेश होता है, अन्योक्ति—रूपक के प्रयोग से शैली उदात्त बनती है—क्यों कि अन्योति-रूपक रात्रि और अंधकार का व्यंजक है। इसी प्रकार वक्रतामूलक अलंकार तथा समास-गुणयुक्त पदावली का भी यही उपयोग है।

मधुर अथवा मसृण शैली शोभा और कान्तियुक्त होती है। इसके विषय हैं परियों के उपवन, विवाह-उत्सव-गीत, प्रेम-कथाएं आदि—इस प्रकार की विषय-वस्तु में ही एक प्रकार की उज्ज्वलता एवं कांति होती है। इस शैली के उपादान हैं मधुर शब्द, मसृण गुम्फ, छन्द-लय की अन्तर्धारा, आदि। मधुर शब्दों से अभिप्राय ऐसे शब्दों का है जो किसी मधुर चित्र की व्यंजना करते हों अथवा जिनकी ध्वनि मधुर हो : उदाहरण के लिए 'गुलाब-रंजित' शब्द की चित्र-व्यंजना रमणीक है, और 'ल' 'न' आदी वर्णों की ध्वनि मधुर है। मसृण गुम्फ का अर्थ यह है कि वर्ण और शब्द एक दूसरे में घुलते चले जाएं। इस प्रकार रचना में एक मधुर तारल्य आ जाता है—इसे ही डिमैट्रियस ने संगीत की अंतर्धारा कहा है। वे छन्द को नहीं छन्द की व्यंजना को शैली का गुण मानते हैं।

तीसरी शैली है प्रसादमयी (प्रसन्न) शैली जिसका मूल लक्ष्य है स्पष्टता और सरलता। अतएव इसमें नित्य प्रति की भाषा का प्रयोग रहता है जिससे सभी असामान्य तत्वों, जैसे रूपक, समास, नव-रचित शब्द आदि का बहिष्कार कर दिया जाता है। दीर्घ स्वर-व्यंजन-योजना, विचित्र अलकार, अत्यधिक समासगुण (श्लेष) आदि समस्त अलंकरण-प्रसाधन इस शैली के लिए त्याज्य हैं। वास्तव में इसका प्राण तत्व है अर्थ-वैमल्य—और अर्थ-वैमल्य के प्रमुख उपादान हैं १. सामान्य शब्दावली २. सामान्य पद-रचना ३. लघु वाक्य ४. लघु वर्ण-योजना ५. आनुगुण्य (एक्यूरेसी)—अर्थात् 'अन्यून-अनतिरिक्त' शब्द-प्रयोग। ये ही प्रसन्न शैली के भी आधारभूत गुण है। डैमेट्रियस की चौथी शैली है ओजस्वी। इस शैली के तत्व हैं १. उल्बण

---

१ एलिगरी

दोनों गुण अनिवार्यतः होने चाहिए। प्रसाद के विषय में एक बात स्मरण रखनी चाहिए : अनेक शब्द सर्वसाधारण के प्रयोग के कारण क्षुद्र बन जाते हैं:—'अतिपरिचयात् अवज्ञा।' अतएव प्रसाद को अतिप्रचलित शब्दों तथा मुहावरों की क्षुद्रता से मुक्त रखना चाहिए। किन्तु उदात्त शैली के लिए प्रसाद पर्याप्त नहीं है—गरिमा भी उतनी ही अनिवार्य है। गरिमा का समावेश करने के लिए अरस्तू ने अनेक-उपकरणों का निर्देश किया है—एडिसन उन्हीं को उद्धृत कर देते हैं। वास्तव में एडिसन अरस्तू की भाषा ही बोलते है—इस प्रसंग में उन्हें अपना कुछ नहीं कहना है।

पोप

पोप में नव्यशास्त्रवाद का प्रतिनिधि रूप मिलता है। उन्होंने भी बोइलो के स्वर में स्वर मिलाते हुए प्रकृति की गौरव-प्रतिष्ठा की—उनकी प्रकृति भी वही रीतिबद्ध प्रकृति है जो शास्त्र का पर्याय है। नव्यशास्त्रवादियों के सिद्धान्त और व्यवहार में एक विचित्र विरोध दृष्टिगत होता है : उनके सिद्धान्तों में जहां काव्य के मौलिक तत्वों की प्रतिष्ठा है, वहां व्यवहार में काव्य की अनेक कृत्रिमताओं का नियमित रूप से समावेश रहता है। उदाहरण के लिए उन्होंने काव्य में शब्द की अपेक्षा अर्थ को ही महत्व दिया है, परन्तु उनके अपने काव्य का प्रधान गुण है भाषा की मसृणता तथा प्रसन्नता। उन्होंने भाषा को निखारने के लिए भाव की प्रायः बलि दे दी है। वास्तव में यही युग यूरोप में रीतिवाद का युग है। पोप ने अपने आलोचना-विषयक छन्दोबद्ध निबन्ध में शैली के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किये हैं : शैली (अभिव्यंजना) विचार का परिधान है और वह जितना संगत होगा उतना ही सुन्दर लगेगा। किसी क्षुद्र कल्पना को यदि चमक-दमक वाली शब्दावली में अभिव्यक्त किया जाए तो वह ऐसी लगेगी मानों विदूषक को राजसी परिधान पहना दिये हों, क्यों कि जैसा विषय हो वैसी ही शैली होनी चाहिए जिस तरह कि ग्राम, नगर और राजदरबार की पोशाक अलग अलग होती है। +

+ + +

देखिए—पोप का 'एसे ऑन क्रिटिसिज्म।

अशुद्ध शैली और शुद्ध शैली :— मिथ्या वाग्मिता ही अशुद्ध शैली है। उसकी स्थिति एक ऐसे शीशे के समान है जो चारों ओर अपने भड़कीले रंगों को बिखेर देता है जिससे हम पदार्थों के सहज स्वरूप को नहीं देख पाते। सभी में एक जैसी चमक-दमक उत्पन्न हो जाती है—किसी में कोई भेद नहीं रहता। परन्तु शुद्ध शैली का यह गुण है कि वह सूर्य के प्रकाश के समान प्रत्येक पदार्थ को व्यक्त कर देती है। उसके रूप को भी चमका देती है। वह सभी को स्वर्णिम आभा से दीप्त कर देती है किन्तु किसी के स्वरूप को नहीं बदलती।

आगे चलकर पोप वर्ण-योजना की चर्चा करते हैं। केवल श्रुतिपेशल वर्ण-गुम्फ अपने आप में स्तुत्य नहीं है—केवल संगीत के लिए काव्य का अनुशीलन करना असंगत है। परिवर्तनहीन रणन-ध्वनियों की झंकार एक प्रकार की अरुचिकर एकस्वरता को जन्म देती है। किसी गतिहीन पंक्ति में रेंगते हुए निर्जीव शब्द काव्य का उत्कर्ष नहीं कर सकते। शब्द में अर्थ की गूंज रहनी चाहिए। काव्य के पारखी प्रसन्न ऊर्जस्विता का ही आदर करते है—जहां ओज और माधुर्य का समन्वय रहता है[1]।

पोप के इन विचारों में भारतीय रीति-सिद्धान्त के अनेक तत्व वर्तमान हैं। पोप ने एक ओर वस्तु-औचित्य की अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दों में प्रतिष्ठा की है, दूसरी ओर प्रसाद, ओज और माधुर्य तीनों गुणों के समन्वय पर बल दिया है। उनकी आदर्श शैली वैदर्भी की भाँति ही प्रसादमयी, ओजस्वी और माधुर्य-संवलित है। 'केवल श्रुतिपेशल' के विरुद्ध उनका अभिमत भामह की निम्न-लिखित उक्ति का स्मरण दिलाता है :

अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम्।
भिन्नगेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्॥[2]
भामह—१।३४।

---

१ देखिए—'एसै ऑन क्रिटिसिज्म'

२ तुलना कीजिए :

हू हान्ट पारनेसस बट टू प्लीज दिअर ईअर
नाट मेन्ड दिअर माइन्ड्स, —पोप

वैदर्भी में यदि पुष्ट अर्थ तथा वक्रोक्ति का अभाव, और केवल ऋजु-प्रसन्न कोमल शब्दावली मात्र हो तो वह गीत की भाँति केवल श्रुतिपेशल हो सकती है—अर्थात् वह हमारे कानों को प्रिय लग सकती है परन्तु उससे हमारी चेतना का परिष्कार नहीं हो सकता है—जो काव्य का चरम उद्देश्य है।

व्यवहार में इस युग के काव्य-सिद्धान्त रीति-सिद्धान्त के और भी अधिक निकट हैं। सिद्धान्त की दृष्टि से तो इस युग में अर्थ-गौरव तथा भाव-सौन्दर्य पर ही बल दिया गया परन्तु वास्तविक व्यवहार में इन कवियों का ध्यान मूलतः भाषा-शैली पर ही केन्द्रित रहा। भाषा-शैली को सँवार और सजाकर इन्होंने काव्य-भाषा को एक पृथक रूप ही दे दिया—सिद्धान्त में अर्थ को गौरव देते हुए व्यवहार में इन्होंने शैली या रीति को ही काव्य की आत्मा माना। रीतिवाद और नव्यशास्त्रवाद में निम्नलिखित समानताएं अत्यन्त स्पष्ट हैं :

१. काव्य में भाव (रस) की अपेक्षा रीति का महत्व।

२. काव्य के प्रति वस्तु-परक दृष्टिकोण।

३. काव्य के बाह्य रूप के उत्कर्षकारी तथा उत्कर्षवर्धक तत्वों (गुण तथा अलंकार) का यत्नपूर्वक ग्रहण और अपकर्षकारी तत्वों (दोष) का त्याग।

स्वच्छन्दतावाद

अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक पहुँचते पहुँचते अनेक आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक कारणों से काव्य-दर्शन में भी मौलिक परिवर्तन आरम्भ हो गया। कान्ट, फ़िक्टे, शैलिंग आदि जर्मन दार्शनिकों ने दृष्टि को वस्तु से हटाकर आत्माभिमुख कर दिया। कान्ट ने स्पष्ट लिखा—"अब तक यह विश्वास रहा है कि हमारा समस्त ज्ञान वस्तु के अनुकूल होना चाहिए परन्तु अब इस बात पर विचार करने का समय आ गया है कि क्या मानव उन्नति के लिए (इसके विपरीत) यह धारणा अधिक श्रेयस्कर नहीं है कि वस्तु को हमारे ज्ञान के अनुकूल होना चाहिए।" इन दार्शनिकों के प्रभाव से काव्य में विवेक और रीति के स्थान पर अन्तर्प्रेरणा, अन्तर्दृष्टि, अन्तर्प्रकाश, कल्पना,

हिन्दी में रीति-सिद्धान्त का विकास

हिन्दी में रीति-सिद्धान्त लोकप्रिय नहीं हुआ। वास्तव में रीतिवाद को हिन्दी साहित्य में कभी मान्यता नहीं मिली। यह एक विषमता ही है कि स्वयं रीतिकाल का ही दृष्टिकोण सिद्धान्त रूप में रीतिवादी नहीं रहा—व्यवहार की बात हम नहीं करते। हिन्दी में कोई भी ऐसा कवि अथवा आचार्य नहीं हुआ जिसने रीति को काव्य की आत्मा माना हो। फिर भी रीति और उसके विभिन्न तत्वों—गुण, रचना (—अर्थात् वर्ण-गुम्फ तथा शब्द-गुम्फ या समास), और अभावात्मक रूप में दोष आदि की उपेक्षा न काव्य में सम्भव है और न काव्यशास्त्र में, अतएव उनके प्रति हिन्दी साहित्य के भिन्न भिन्न युगों में कवियों तथा आचार्यों का अपना कोई न कोई निश्चित दृष्टिकोण रहा ही है और उनका यथाप्रसंग विवेचन भी किया गया है। प्रस्तुत निबन्ध में हम उसी की ऐतिहासिक समीक्षा करेंगे।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में एक ओर स्वयंभू आदि प्राचीन हिन्दी के कवियों की और दूसरी ओर चन्द आदि पिंगल के कवियों की कतिपय काव्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी पंक्तियां मिल जाती हैं। उनके आधार पर किसी निश्चित सिद्धान्त की स्थापना करना चाहे कठिन हो, किन्तु समग्र काव्य के अध्ययन के साथ साथ तो उनकी सहायता से उनके रचयिताओं के काव्यगत दृष्टिकोण के विषय में धारणा बनाई ही जा सकती है। उदाहरण के लिए स्वयंभू की निम्नलिखित प्रसिद्ध पंक्तियां लीजिए :

अक्खर-वास जलोह मणोहर। सुयलंकार-छंद मच्छोहर।
दीह-समास-पवाहा वंकिय। सक्कय पायय-पुलिणालंकिय।

देसी-भाषा उभय तडुज्जल । कवि-दुक्कर घण-सद्द सिलायल ।
अत्थ-बहल कल्लोला णिट्ठिय । आसा-सय-सम ऊह परिट्ठिय ।

अर्थात् रामकथा-रूपी सरिता में अक्षर ही मनोहर जलौक हैं, सुन्दर अलंकार तथा छन्द मीन हैं, दीर्घ समास बंकिम प्रवाह हैं। संस्कृत-प्राकृत के पुलिन हैं—देशी भाषाएं दो उज्ज्वल तट हैं। कवियों के लिए दुष्कर सघन शब्दों के शिलातल हैं। अर्थ-बहुला कल्लोलें हैं शतशत आशाओं के समान तरंगे उठती है।

उपर्युक्त पंक्तियों में स्वयंभू ने स्वभावतः उन उपकरणों का उल्लेख किया है जिन्हे वे सत्काव्य के लिए आवश्यक समझते हैं : अक्षर-गुम्फ, अलंकार, छन्द, दीर्घ समास, संस्कृत-प्राकृत के शब्द, सघन शब्द-बंध, अर्थ-बाहुल्य आदि। इनमें से अक्षर-गुम्फ, दीर्घ समास, सघन शब्द-बंध आदि स्पष्टतः रीति के तत्व हैं। महाकाव्य की शैली स्वभाव से ही ओज-प्रधान होती है—अतएव उसके लिए गौड़ीया रीति के तत्व प्रायः अनुकूल पड़ते हैं। इस प्रकार स्वयंभू रीति को काव्य का आवश्यक अंग मानते हैं। परन्तु वैसे उनका दृष्टिकोण निस्संदेह रसवादी ही है—वे तुलसीदास के साहित्यिक पूर्वज हैं।

चन्द आदि कवि भी रसवादी ही थे।—शास्त्रविद् होने के कारण काव्य के शास्त्रीय तत्वों—का रीति, गुण, अलंकार, आदि का—उनके काव्य में यथावत् सन्निवेश है, परन्तु रीतिवाद से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। विद्यापति में रसवाद अपनी चरम सीमा पर है—परतु उनको अपनी काव्य-भाषा पर भी कम अभिमान नहीं था : बालचन्द के समान उनकी भाषा में नागर-मन को मुग्ध करने की अद्भुत शक्ति थी। इसी प्रसंग में उन्होंने काव्य-भाषा के विषय में एक बार फिर अपने विचार का संकेत दिया है :

सक्कय वांणी बुहयन भावई, पाउअ रस को मम्म न पावई।
देसिल बअना सब जन मिट्ठा, तें तैंसन जम्पओं अवहट्ठा।
(कीर्तिलता)

संस्कृत केवल विद्वानों को ही रुचिकर हो सकती है, प्राकृत रस का मर्म नहीं पाती। देशी वाणी सभी को मीठी लगती है, इसलिए मैं अवहट्ठ भाषा में

संस्कृत काव्यशास्त्र में, जैसा कि मैंने आरम्भ में स्पष्ट किया है, रीति और गुण के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में तीन मत हैं : आनन्दवर्धन आदि आचार्य रीति को गुणाश्रित मानते हैं, उद्भट आदि गुण को रीति-आश्रित मानते है, और वामन इन दोनों को प्रायः अभिन्न ही मानते हैं। वामन का मत है कि विशिष्ट पदरचना का नाम रीति है और यह विशिष्टता गुणात्मक है। इस प्रकार रीति का स्वरूप गुणात्मक है। परन्तु तत्व रूप में दोनों का ऐकात्म्य मानते हुए भी वामन ने व्यवहार रूप में दोनों की पृथक सत्ता मानी है : वैदर्भी, गौडी, पांचाली रीतियां है—श्लेष, प्रसाद, समता, आदि गुण हैं। गुण इन रीतियों के प्राण हैं—इनका वैशिष्ट्य सर्वथा गुणात्मक है, किन्तु फिर भी दोनों की सत्ता अलग ही है।

भरत ने दश गुण माने हैं :—१. श्लेष, २. प्रसाद, ३. समता, ४. समाधि, ५. माधुर्य, ६. ओज, ७. सौकुमार्य, ८. अर्थव्यक्ति, ९. उदारता, १०. कांति। भरत के उपरान्त दण्डी और वामन दोनों ने लक्षणों में परिवर्तन-परिशोधन करते हुए इनको ही स्वीकार किया है—दण्डी और वामन ही एक प्रकार से रीति-गुण सम्प्रदाय के अधिनायक हैं। परन्तु आगे चलकर ध्वनिकार ने गुणों की संख्या दस से घटाकर तीन करदी—उन्होंने माधुर्य, ओज और प्रसाद में ही शेष सात गुणों का अतर्भाव कर दिया।—मम्मट आदि ने भी इन्हीं को स्वीकृति दी और तब से प्रायः ये तीन गुण ही प्रचलित रहे हैं। परन्तु देव ने इस विषय में पूर्व-ध्वनि परम्परा का अनुसरण करते हुए उपर्युक्त दस गुणों (रीतियों) को ग्रहण किया है—वरन् उन्होंने तो अनुप्रास और यमक को भी गुणों (रीतियों) के अन्तर्गत मानते हुए उनकी संख्या बारह तक पहुंचा दी है। यमक और अनुप्रास को रीति (गुण) मानना साधारतः असंगत है क्योंकि गुण काव्य की आत्मा का धर्म है, दूसरे शब्दों में काव्य का स्थायी धर्म है, इसके विपरीत यमक और अनुप्राम रस के आंतरिक तत्व न होने से काव्य के अस्थायी धर्म ही रहेंगे। परन्तु देव की इस स्थापना से एक महत्वपूर्ण संकेत अवश्य मिलता है : वह यह कि पण्डितराज जगन्नाथ की भाँति वे गुणों की स्थिति अर्थ के साथ-साथ वर्णों में भी मानते हैं। उपर्युक्त दस गुणों के विवेचन में उन्होने भरत और वामन की अपेक्षा प्रायः दण्डी का ही अनुसरण किया।—क्रम भी बहुत कुछ दण्डी से ही मिलता है, लक्षण तो कहीं कहीं काव्यादर्श से अनूदित ही कर दिए गए हैं। श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति और ओज के

लक्षण प्रायः दण्डी के ही अनुसार हैं। केवल दो-तीन गुण ही ऐसे रह जाते हैं जिनके लक्षण भरत, दण्डी और वामन तीनों से भिन्न हैं। कांति गुण में, देव के अनुसार, सुरुचिपूर्ण चारु वचनावली होनी चाहिये जिसमें लोकमर्यादा की अपेक्षा कुछ विशेषता हो और जो अपने इसगुण के कारण लोगोंको सुखकर हो :

अधिक लोकमर्जाद ते, सुनत परम सुख जाहि।
चारु वचन ये कांति रुचि, कांति बखानत ताहि॥

(शब्द-रसायन)

इस लक्षण का शेष भाग तो दण्डी से मिल जाता है, परन्तु दण्डी जहां लोक-मर्यादा के अनुसरण को (लौकिकार्थनातिक्रमात्) अनिवार्य मानते हैं वहां देव में उसके अतिक्रमण का स्पष्ट उल्लेख है। दण्डी के अनुसार तो अप्राकृतिकता अथवा अस्वाभाविकता का बहिष्कार करते हुए लौकिक मर्यादा के अनुकूल स्वाभाविक वर्णन करना ही कांति गुण का मुख्य तत्व है। वामन ने समृद्धि अर्थात् औज्ज्वल्य और रस-दीप्ति को कांति गुण का सार-तत्व माना है—जिसके लिए साधारण प्रचलित शब्दावली का बहिष्कार अनिवार्य है। देव ने या तो दण्डी का अभिप्राय नहीं समझा—या फिर कुछ पाठ की गड़बड़ है। इसके अतिरिक्त एक सम्भावना यह हो सकती है कि 'अधिक लोक मर्जाद ते' से देव का अभिप्राय कदाचित् वामन द्वारा निर्दिष्ट साधारण वचनावली के बहिष्कार का ही हो—परन्तु यह कुछ क्लिष्ट कल्पना ही लगती है। इसी प्रकार उदारता के लक्षण में भी 'यस्मिन् उक्ते (जाहि सुनत ही)', तथा 'उत्कर्ष' आदि शब्द देव ने दण्डी से ही लिए हैं, परन्तु दण्डी जहां उत्कर्ष की भावना को उदारता का प्राण मानते हैं, वहां देव का कहना है

जाहि सुनत ही ओज को दूर होत उत्कर्ष।

(शब्द-रसायन)

ओज का उत्कर्ष दूर होने से उनका क्या अभिप्राय है यह जानना कठिन है। प्रयत्न करने पर यही अर्थ निकाला जा सकता है कि उदारता में एक प्रकार का उत्कर्ष होता है, जो ओज के उत्कर्ष से भिन्न होता है—या फिर यहां भी प्रतिलिपिकार की कृपा से पाठ की कुछ उलट फेर है। इसी प्रकार समाधि के लक्षण देव और दण्डी के यों तो समान हैं—किन्तु दण्डी के वहां "लोकसीमानुरोधिना (लोक मर्यादा के भीतर) के स्थान पर देव ने न जाने

क्यों "लोक सींव उलँघै अरथ" लिख दिया है! यहां भी या तो पाठ की गड़बड़ है या अर्थ समझने में भ्रांति हुई है।

इस प्रसंग में भी देव ने एक नवीन उद्भावना कर डाली है—वह यह है कि आपने प्रत्येक रीति (गुण) के दो भेद माने हैं—नागर और ग्राम्य। इन दोनों में यह अन्तर है कि नागर रीति में सुरुचि का प्राधान्य होता है, ग्राम्य में रस का आधिक्य होते हुए भी सुरुचि का अभाव रहता है।

नागर गुन आगर, दुतिय रस-सागर रुचि-हीन।
(शब्द-रसायन)

वैसे दोनों को अपनी अपनी विशेषता है—एक को उत्कृष्ट और दूसरी को निकृष्ट कहना अरसिकता का परिचय देना होगा।—देव की अन्य उद्-भावनाओं की भाँति यह भी महत्वहीन ही है और एक प्रकार से असंगत भी क्योंकि पहले तो मानव-स्वभाव में नागर और ग्रामीण का मूलगत भेद मानना ही युक्तिसंगत नहीं है (देव अपने उदाहरणों द्वारा यह अन्तर स्पष्ट करने में प्रायः असफल रहे हैं), फिर यदि इस स्थूल भेद को स्वीकार भी कर लिया जाए, तो कांति, उदारता आदि कतिपय गुण ऐसे हैं जिनके लिए अग्राम्यत्व अनिवार्य है। ऐसी दशा में इनके भी नागर और ग्रामीण भेद करना इनकी आत्मा का ही निषेध करना है।

शब्द-शक्ति, रीति, गुण आदि के अतिरिक्त देव ने कैशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती वृत्तियों का वर्णन भी किया है जो कि अव्यकाव्य का अंग न होकर दृश्यकाव्य का ही अंग मानी जाती हैं। शृङ्गार, हास्य और करुण में कैशिकी (कौशिकी); रौद्र, भयानक और वीभत्स में आरभटी; वीर, रौद्र, अद्भुत और शांत में सात्वती; तथा वीर, हास्य और अद्भुत में भारती वृति का प्रयोग होता है। संस्कृत में नाट्य-शास्त्र, दशरूपक, साहित्य-दर्पण आदि में भी रसों के अनुक्रम से ही इनका विवेचन है—परन्तु देव का आधार यहां उपर्युक्त ग्रन्थ न होकर केशवदास की रसिक-प्रिया ही है। रसिक-प्रिया में ठीक इसी क्रम से इनका रसों के साथ सम्बन्ध बैठाया गया है, एक थोड़ा सा अन्तर यह है कि सात्वती के अन्तर्गत शृङ्गार के स्थान पर देव ने भरत के आधार पर रौद्र को माना है, बस; परन्तु केशव में भी शायद यह लिपि-दोष है।

देव के उपरान्त दास तक प्रायः किसी भी कवि ने रीति अथवा रीति-तत्वों का विशेष विवेचन नहीं किया। इनके प्रसंग में दो बातें उल्लेख योग्य

हैं : एक तो सूरति मिश्र ने अपने लक्षण में रीति का समावेश करते हुए उसको काव्य का आवश्यक अंग माना है :

बरनन मन-रंजन जहां रीति अलौकिक होइ।
निपुन कर्म कवि कौ जु तिहि काव्य कहत सब कोइ॥

जहां तक मुझे स्मरण है संस्कृत-हिन्दी के किसी कवि ने रीति का काव्य-लक्षण में समावेश नहीं किया—गुण का ही प्रायः किया है। दूसरी विशेष बात यह है कि श्रीपति ने अपने श्रीपति-सरोज में अर्थ-गुणों का अलग वर्णन किया है। हिन्दी में अर्थ और शब्द के आधार पर गुणभेद प्रायः नहीं किये गये। एक चिंतामणि ही अपवाद हैं। संस्कृत में भी वामन या भोजराज आदि दो एक आचार्य को छोड़ किसी ने इस भेद को स्वीकार नहीं किया। इस दृष्टि से श्रीपति का अर्थ-गुण-वर्णन एक उल्लेखनीय विशेषता है। सोमनाथ ने अपने रसपीयूषनिधि में गुण का काव्य-लक्षण में उल्लेख किया है—मम्मट के आधार पर उनका लक्षण इस प्रकार है :

सगुन पदारथ दोष बिनु, पिंगल मत अविरुद्ध।
भूषणजुत कवि-कर्म जो सो कवित्त कहि बुद्ध॥

परन्तु इन आचार्यों का गुण-लक्षण वामन से थोड़ा भिन्न है। ये गुण को रस का धर्म मानते हैं जबकि वामन उसे शब्द-अर्थ का ही धर्म मानते हैं—फिर भी व्यवहार रूप में दोनों के गुण-वर्णन में बहुत कुछ सादृश्य भी है, इसीलिए गुण का रीति के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध रहा है।

दास

दास का गुण-वर्णन रीतिकाल के प्रायः अन्य सभी आचार्यों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान है। उन्होंने इस प्रसंग का वर्णन अधिक मनोयोग-पूर्वक और साथ ही स्वतन्त्र रीति से भी किया है।

दस बिधि के गुन कहत हैं, पहिले सुकवि सुजान।
पुनि तीनै गुन गनि रचौ, सब तिनके दरम्यान॥
ज्यों सतजन हिय ते नहीं सूरतादि गुन जाय।
त्यों विदग्ध हिय में रहैं, दस गुन सहज स्वभाय।

अर्थात् जिस प्रकार सज्जन के हृदय में शौर्य आदि का वास रहता है, इसी प्रकार विदग्ध सहृदय के हृदय में स्वभाव से ही दश गुण निवास करते हैं। दास की यह स्थापना परम्परा से कुछ भिन्न है। परम्परा के अनुसार स्थायी भावों के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वे वासना रूप में सहृदय के हृदय में वर्तमान रहते हैं। दास गुणों की भी यही स्थिति मानते हैं: उनका तर्क कदाचित् यह है कि रस के धर्म होने के कारण गुणों का भी वासना से सहज सम्बन्ध है, और शौर्य आदि गुणों की भाँति वे भी आत्मा में ही निवास करते हैं।

मम्मट आदि रस-ध्वनिवादी भी गुणों को चित्त की द्रुति, दीप्ति तथा व्याप्ति (समर्पकत्व) रूप मानते हुए इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं—और इसी कारण वे गुणों की संख्या दश न मान कर केवल तीन मानते हैं। दास का भी यही मत है: प्राचीन आचार्यों के अनुसार दश गुणों का वर्णन करने के उपरांत वे मूल गुणों की संख्या केवल तीन मानते हैं।

दश गुणों के वर्गीकरण में दास ने फिर परम्परा से भिन्न मार्ग का अवलम्बन किया है। उन्होंने गुणों के चार वर्ग किये हैं: (१) अक्षर-गुण—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद (२) दोषाभाव-रूप गुण—समता, कान्ति और उदारता (३) अर्थ-गुण—अर्थव्यक्ति और समाधि (४) वाक्य-गुण—श्लेष तथा पुनरुक्तिप्रकाश।

अक्षर गुन माधुर्य अरु, ओज प्रसाद विचारि।
समता कान्ति उदारता, दूषन-हरन निहारि॥
अर्थव्यक्ति समाधिये अर्थहि करै प्रकास।
वाक्यन के गुन श्लेष अरु, पुनरुक्ती-परकास॥

यहां पहली बात तो यही विचारणीय है कि दास ने पुनरुक्तिप्रकाश नामक एक नये गुण की कल्पना की है और वामनादि के सौकुमार्य गुण को छोड़ दिया है।

एक शब्द बहु बार जहँ, परै रुचिरता अर्थ।
पुनरुक्तीपरकाश गुन, बरनै बुद्धि समर्थ॥

दास ने सौकुमार्य के स्थान पर इस नवीन गुण की कल्पना क्यों की यह कहना कठिन है, फिर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि सौकुमार्य की

कदाचित् वे माधुर्य से पृथक सत्ता स्वीकार नहीं कर सके, अतएव उसे छोड़ कर उन्होंने एक अन्य प्रकार के पदरचना-चमत्कार को जिसका ब्रजभाषा में यथेष्ट प्रचार था, दशगुणों में समाविष्ट कर लिया। वामन ने शब्द गुण सौकुमार्य का अर्थ किया है शब्द-गत अपारुष्य—इस दृष्टि से पुनरुक्तिप्रकाश की रुचिर पदावृत्ति को सौकुमार्य का एक साधन भी माना जा सकता है। सौकुमार्य का यह रूप अन्य रूपों की अपेक्षा अधिक विशिष्ट था, अतएव दास ने कदाचित् इसका स्वतन्त्र अस्तित्व मानना प्रचलित काव्य-भाषा के अधिक स्वरूपानुकूल समझा।

शेष नौ गुणों में से माधुर्य, ओज, प्रसाद, श्लेष, कान्ति, और अर्थ-व्यक्ति के लक्षण तो दास ने प्रायः दण्डी अथवा वामन के अनुसार ही दिये हैं—परन्तु समता, औदार्य और समाधि में परम्परा से वैचित्र्य है।

समता— प्राचीनन की रीतिसों, भिन्न रीति ठहराइ।
समता गुन ताको कहै, पै दूषनन्ह बराइ॥

अर्थात् दास के अनुसार समता गुण वहां होता है जहां परिपाटी-मुक्त रीति का परित्याग कर नवीन रीति का अवलम्बन किया जाये—किन्तु परिपाटी से मुक्ति दुष्ट प्रयोगों की छूट नहीं देती। यह लक्षण कुछ-कुछ वामन के अर्थ-गुण माधुर्य से मिलता है। दण्डी और वामन के अनुसार समता का अर्थ है रीति का अवैषम्य।

उदारता—

जो अन्वय बल पठित ह्वै, समुझि परै चतुरैन।
ओरन को लागे कठिन, गन उदारता ऐन॥

अर्थात् जहां अन्वय बल-पूर्वक लगाया जा सके—जो केवल विदग्ध जन की ही समझ में आये और दूसरों को कठिन प्रतीत हो वहाँ उदारता गुण होता है। प्रस्तुत लक्षण दास ने कहां से लिया है यह कहना कठिन है। भरत, दण्डी, तथा वामनादि किसी ने भी इसका संकेत नहीं किया।

तीसरा गुण समाधि है जिसमें दास ने कुछ वैचित्र्य प्रदर्शित किया है। जहां रुचिर क्रम से आरोह-अवरोह हो वहां समाधि गुण होता है:

जुहै रोह-अवरोह गति रुचिर भाँति क्रम पाय।

गुणों तथा वृत्तियों का विवेचन मम्मट के आधार पर किया गया है। मिश्रजी ने भी केवल तीन ही गुणों की सत्ता स्वीकार की है—शेष का उन्हीं में अन्तर्भाव माना है। वृत्तियों का वर्णन वृत्त्यनुप्रास के अन्तर्गत हुआ है—इन्होंने भी प्रदीप के आधार पर माधुर्य का सम्बन्ध उपनागरिकता से, ओज का गौड़ी से, और कोमलता का प्रसाद से माना है।

हिन्दी काव्यशास्त्र की दूसरी प्रवृत्ति का सम्बन्ध है आधुनिक आलोचना-पद्धति से जिसका आधार पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा मनोविज्ञान है। स्वभावतः यह दूसरी प्रवृत्ति ही आज अधिक समर्थ है। इसके अन्तर्गत पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दरदास तथा श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु आदि का महत्वपूर्ण स्थान है। रीति अर्थात् काव्य-भाषा-शैली के विषय में इन विद्वानों ने भी विचार व्यक्त किए हैं जिनका अपना विशेष मूल्य है।

आधुनिक आलोचक

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी के सामने काव्य-भाषा और गद्य-भाषा का प्रश्न एक नवीन रूप में उपस्थित हुआ। उस समय काव्य की भाषा ब्रजभाषा थी, और गद्य की भाषा खड़ी बोली। द्विवेदी जी ने वर्ड्सवर्थ के सिद्धान्त के आधार पर व्यावहारिक रूप से इस अंतर को मिटाने का प्रयत्न किया। "मतलब यह कि भाषा बोलचाल की हो क्योंकि कविता की भाषा से बोलचाल की भाषा जितनी ही अधिक दूर जा पड़ती है, उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। + + इसी तरह कवि को मुहावरे का भी ख्याल रखना चाहिए + + हिन्दी उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गये हैं, वे यदि बोलचाल के हैं तो उनका प्रयोग सदोष नहीं माना जा सकता।" (रसज्ञ-रंजन पृ० ४६-४७)। कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्ड्सवर्थ के प्रयत्न के समान ही यह प्रयत्न भी विफल ही रहा। इससे यह लाभ तो हुआ कि खड़ी बोली को काव्य-भाषा रूप में स्वीकृति मिल गई—किन्तु बोल-चाल की गद्य से अभिन्न भाषा काव्य-भाषा नहीं बन सकी। द्विवेदीजी की कविता तो गद्यमयी हो गई—किन्तु गद्य-भाषा काव्य की भाषा न बन सकी। द्विवेदी जी ने उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार भाषा के गुणों की अपेक्षा उसकी शुद्धता आदि पर अधिक बल दिया है।

'अवन्ति सुन्दरी' का मत ५२
'साहित्य मीमासा' की कारिकाएँ ५३
काव्य के गद्य पद्य दो भेद ५५
गद्य काव्य के तीन भेद ५५
पद्य काव्य के भेद ५७
प्रवन्ध-काव्य और मुक्तक ५९
प्रवन्ध-काव्यो मे रूपक का महत्व ६०
भामहकृत; काव्यो के 'सर्गवन्ध', 'अभिनेयार्थ' और 'आख्यायिका' रूप तीन भेद ६२
काव्य भेदो के विषय मे आनन्द वर्धन का मत ६५

'दोप-दर्शन' नामक द्वितीय अधिकरण

[पृष्ठ ६७–११२ तक]

प्रथम अध्याय

[पदपदार्थ-दोष विभाग ६६–८७]

गत प्रथमाध्याय के साथ सम्वन्ध ६७
दोप का सामान्य लक्षण ६८
पाँच प्रकार के पद दोप ७०
१ असाधु पदत्व ७१
२. कष्टपद ७२
३. ग्राम्यपद ७२
४. अप्रतीत पद ७३
५ अनर्थक पद ७४
पाँच प्रकार के पदार्थ दोप ७६
१. अन्यार्थ ७७
२. नेयार्थ ७८
३ गूढार्थ ८०
४. अश्लील ८८
अश्लीलत्व के तीन प्रकार के अपवाद ८१
अ. गुप्तार्थ ८१
व. लक्षितार्थ ८१
स. सवृत
अश्लीलत्व के तीन भेद ८३
५. क्लिप्टार्थ ८४
अश्लीलत्व तथा क्लिप्टत्व का वाक्यदोपत्व ८५

द्वितीय अध्याय

[वाक्य वाक्यार्थ दोप विभाग ८८–१०२]

तीन प्रकार के वाक्य दोप ८८
१. भिन्न वृत्त
२. यति भ्रष्ट
धातु भाग तथा नाम भाग के भेद मे यति भ्रष्टत्व के उदाहरण ८९
भिन्न वृत्त तथा यति भ्रष्ट का परस्पर भेद ९६
३. विसन्धि ९४
विसन्धि दोप के तीन भेद ९४
अ. सन्धि विश्लेप
व अश्लील सन्धि
स कष्ट सन्धि
सात प्रकार के वाक्यार्थ दोप ९८
१ व्यर्थ ९८
२ एकार्थ ९९
एकार्थ या पुनरुक्ति की अदोपता १००
धनुर्ज्या आदि पदो की अदोपता १००
कर्णावतसादि पदो की अदोपता १०१
मुक्ताहार आदि पदो की अदोपता १०२

पुष्पमाला आदि पदो की अदोषता १०३
उष्ट्र-कलभ आदि पदो की अदोषता १०४
यह अदोषता प्रयुक्त पदो मे ही मानी जाती है। १०५
३ सन्दिग्ध १०६
४ अप्रयुक्त १०७
५ अपक्रम १०७
६ लोक विरुद्ध १०८
७ विद्या विरुद्ध ११०

'गुण विवेचन' नामक तृतीय अधिकरण

[पृष्ठ ११३–१५९ तक]

प्रथम अध्याय

[गुणालङ्कार विवेक और शब्द गुण] ११३–१३९

गुण तथा अलङ्कार का भेद ११३
काव्य शोभा के जनक गुण ११३
काव्य शोभा के अतिशय हेतु अलङ्कार ११४
मम्मटाचार्य कृत गुण अलङ्कार भेद
गुणो की नित्यता ११५
दस प्रकार के शब्द गुण ११८
१ ओज गुण ११९
२. प्रसाद गुण १२०
शैथिल्य रूप प्रसीद के गुणत्व का उपपादन १२०
३ श्लेष गुण १२३
४ समता गुण १२४
५ समाधि गुण १२४
आरोह अवरोह के ओज प्रसाद रूप होने से समाधि गुण का खण्डन १२६
समाधि गुण के खण्डन मे प्रस्तुत युक्ति का निराकरण १२६
६ माधुर्य गुण १३१
७ सौकुमार्य गुण १३२
८ उदारता गुण १३२
९ अर्थ व्यक्ति गुण १३३
१० कान्ति गुण १३४
११ शब्द गुणो के विषय मे १३५
सग्रह श्लोक १३५
गुणो की अभावरूपता का निराकरण १३७
गुणो की भ्रमरूपता का निराकरण १३८
गुण के पाठधर्मत्व का निराकरण १३९

द्वितीय अध्याय

[अर्थ गुण विवेचन १४०–१५९]

ओज आदि दश अर्थ गुण १४०
१. अर्थ गुण ओज १४१
अर्थ प्रौढि रूप ओज के पाँच भेद १४१
क पद के अर्थ मे वाक्य रचना १४१
ख वाक्य के अर्थ मे पद का प्रयोग १४६
ग अर्थ का विस्तार से कथन १४४
घ अर्थ का सक्षेप कथन १४५
ङ अर्थ की साभिप्रायता १४५
२ अर्थ गुण प्रसाद १४६
३ अर्थ गुण श्लेप १४७
४ अर्थ गुण समता १४८

५. अर्थ गुण समाधि १५०
क अयोनि अर्थ १५०
ख अन्यच्छाया योनि अर्थ १५१
अर्थ के व्यक्त, सूक्ष्म दो भेद १५२
सूक्ष्म के भाव्य और वासनीय दो भेद १५२
६ अर्थ गुण माधुर्य १५३
७ अर्थ गुण सौकुमार्य १५४
८ अर्थ गुण उदारता १५५
९ अर्थ गुण अर्थ व्यक्ति १५६
१०. अर्थ गुण कान्ति १५७
काव्यपाक विषयक तीन सग्रह श्लोक १५८
काव्य पाक विषयक राजशेखरमत १५९

'आलङ्कारिक' नामक चतुर्थ अधिकरण

पृष्ठ १६०–२७०

प्रथम अध्याय

[शब्दालङ्कार विचार १६०–१८४]

गुण अलङ्कार का भेद
यमक, अनुप्रास दो शब्दालङ्कार १६०
यमक का लक्षण १६२
यमक के स्थान १६३
क. पाद यमक १६३
ख. एक पाद के आदि मध्य अन्त यमक १६४
ग. दो पादो के आदि मध्य अन्त यमक १६५
घ. एकान्तर पादान्त यमक १६७
ङ. समस्त पादान्त यमक १६८
च. एकाक्षर यमक १६९
भङ्ग से यमक का उत्कर्ष १७१
भङ्ग के तीन भेद १७१
क श्रृखला भङ्ग १७१
ख. परिवर्तक भङ्ग १७२
ग चूर्ण भङ्ग १७३
यमक के विषय मे सात सग्रह श्लोक १७४
अनुप्रास का लक्षण १७७
अनुल्वण अनुप्रास की श्रेष्ठता ७९
पाद यमक के समान पादानुप्रास १८०
यमक के अन्य भेदो के समान अनुप्रास के अन्य भेद १८४

द्वितीय अध्याय

[उपमा विचार १८५–२१०]

उपमा का लक्षण १८५
उपमान और उपमेय का लक्षण १८६
उपमा लक्षण मे दोनो की आवश्यकता १८६
उपमा के कल्पिता और लौकिकी दो भेद १८७
उनके उदाहरण १८०
पदवृत्ति, वाक्यार्थ वृत्ति रूप उपमा के दो और भेद १९०
प्रकारान्तर से उपमा के पूर्णा तथा लुप्ता दो भेद १९२
अन्य आचार्यो द्वारा किए हुए उपमा के २७ भेदो की चर्चा १९३
उपमा के कारण १९९
स्तुति, निन्दा और तत्त्वाख्यान के उदाहरण २०९
उपमा के दोष २०१
१. हीनत्व उपमा दोष २०१

अपनाया है। और अपने ग्रन्थो मे उसको उद्धृत किया है। इसके अनुसार कीर्ति और प्रीति के अतिरिक्त पुरुषार्थचतुष्टय और कला तथा व्यवहार आदि में नैपुण्य का लाभ भी काव्य का प्रयोजन है।

कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्तिजीवितम्' मे इसको और अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उन्होने काव्य के प्रयोजनो का निरूपण करते हुए लिखा है—

[1]धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजाताना हृदयाह्लादकारकः ॥ ३ ॥
व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते ॥ ४ ॥
चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥ ५ ॥

अर्थात् काव्य की रचना अभिजात श्रेष्ठकुल मे उत्पन्न राजकुमार आदि के लिए कहा हुआ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि का सरल मार्ग है।

सत्काव्य के परिज्ञान से ही, व्यवहार करने वाले सब प्रकार के लोगों को अपने-अपने व्यवहार का पूर्ण एवं सुन्दर ज्ञान प्राप्त होता है।

[और सबसे बडी बात यह है कि] चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति से भी बढ़ कर सहृदयों के हृदय मे चमत्कार उससे उत्पन्न होता है।

कुन्तक के इस काव्य प्रयोजन के निरूपण को काव्यप्रकाशकार श्री मम्मटाचार्य ने और भी अधिक व्यापक तथा स्पष्ट करके इस प्रकार लिखा है—

[2]काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ २ ॥

इसमे काव्यप्रकाशकार ने काव्य के ६ प्रयोजन प्रतिपादन किए हैं। जिनमें से तीन को हम मुख्यतः कविनिष्ठ और शेष तीन को मुख्यतः पाठकनिष्ठ प्रयोजन कह सकते हैं। 'यशसे', 'अर्थकृते' और 'शिवेतरक्षतये' अर्थात् यश और अर्थ की प्राप्ति तथा अनिष्ट का नाश यह तीनों प्रयोजन कवि के उद्देश्य

[1] वक्रोक्तिजीवितम् १, ३, ४, ५। [2] काव्यप्रकाश १, २।

से और 'व्यवहारविदे', 'सद्यः परनिर्वृतये' तथा 'कान्तासम्मिततया उपदेशयुजे' यह तीन प्रयोजन पाठक के उद्देश्य से रखे गए हैं। इस प्रकार काव्य प्रयोजनों के निरूपण में उत्तरोत्तर विकास हुआ जान पड़ता है।

कीर्ति को काव्य का मुख्य प्रयोजन बतलाते हुए वामन ने जिस प्रकार के तीन श्लोक इस अध्याय के अन्त मे लिखे हैं, उसी प्रकार के श्लोक भामह के 'काव्यालङ्कार' मे भी पाए जाते हैं। जो इस प्रकार हैं—

[1]उपेयुषामपि दिव सन्निबन्धविधायिनाम्।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमय वपुः ॥ ६ ॥
रुणद्धि रोदसी चास्य यावत् कीर्तिरनश्वरी।
तावत् किलायमध्यास्ते सुकृती वैबुध पदम् ॥ ७ ॥
अतोऽभिवाञ्छता कीर्तिं स्थेयसीमाभुवः स्थितेः।
यत्नो विदितवेद्येन विधेयः काव्यलक्षणः ॥ ८ ॥
सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते ॥ ११ ॥
अकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्व पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः ॥ १२ ॥

अर्थात् उत्तम काव्यों की रचना करने वाले महाकवियों के दिवङ्गत हो जाने के बाद भी उनका सुन्दर काव्य शरीर [यावच्चन्द्रदिवाकरौ] अक्षुण्ण बना रहता है।

और जब तक उसकी अनश्वर कीर्ति इस भूमण्डल तथा आकाश में व्याप्त रहती है तब तक वह सौभाग्यशाली पुण्यात्मा देव पद का भोग करता है।

इसलिए प्रलय पर्यन्त स्थिर कीर्ति को चाहने वाले कवि को कवि के उपयोगी समस्त विषय का ज्ञान प्राप्त कर उत्तम काव्य रचना के लिए परम प्रयत्न करना चाहिए।

काव्य मे एक भी अनुपयुक्त पद न आने पावे इस बात का ध्यान रखे। क्योंकि कुकाव्य की रचना से कवि उसी प्रकार निन्दा का भाजन बनता है जिस प्रकार कुपुत्र को उत्पन्न करके।

[1] भामह काव्यालङ्कार १।

इति श्री पण्डितवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ
'शारीरे' प्रथमेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः ।
इति प्रयोजनस्थापना ।

[कुकवि बनने से तो अकवि रहना अच्छा है । क्योंकि] अकवित्व से तो अधिक-से-अधिक व्याधि या दण्ड का भागी हो सकता है परन्तु कुकवित्व को तो विद्वान् लोग साक्षात् मृत्यु ही कहते हैं ।

वामन ने जिस प्रकार के तीन सग्रह श्लोक इस अध्याय की समाप्ति में दिए हैं इसी प्रकार के श्लोक सारे ग्रन्थ में उन्होने अनेक जगह उद्धृत किए हैं । इनमे से अधिकाश श्लोकों का यह पता नहीं चलता है कि उन्होंने कहा से लिए हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि वह श्लोक उनके स्वय अपने ही बनाए हुए हैं । 'ध्वन्यालोक' तथा 'वक्रोक्तिजीवित' आदि में यह शैली देखी जाती है । इन ग्रन्थो के लेखकों ने भी अपने मूल ग्रन्थों की रचना कारिका रूप मे करके उनकी वृत्ति भी स्वय ही लिखी है । उन्होंने वृत्ति लिखते हुए अनेक स्थलो पर कुछ सग्रह श्लोक लिखे हैं । वह श्लोक कारिकाओ से भिन्न और वृत्ति ग्रन्थ के भाग हैं । कुन्तक ने इन श्लोकों को 'अन्तरश्लोक' शब्द से कहा है । 'ध्वन्यालोक' में 'सग्रह' नाम से उनका निर्देश हुआ है । इसी प्रकार वामन ने अपने सूत्रों पर स्वयं 'वृत्ति' लिखते हुए स्थान-स्थान पर इस प्रकार के श्लोक लिखे हैं । इन्हीं को प्रायः 'अत्र श्लोकाः' आदि शब्दों से वामन ने निर्दिष्ट किया है । कही-कहीं इस प्रकार के श्लोक वामन ने भामह के काव्यालङ्कार आदि प्राचीन ग्रन्थों से भी उद्धृत किए हैं । जहा उनका पता लग जाता है वहा तो वह प्राचीन श्लोक ही मानने होंगे, शेष श्लोक वामन के अपने श्लोक मानने होंगे । इसी लिए यह श्लोक भी वामन स्वरचित 'संग्रह' रूप ही हैं ।

श्री पण्डितवरवामनविरचित 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' मे
प्रथम 'शारीराधिकरण' में प्रथमाध्याय समाप्त हुआ ।
प्रयोजन की स्थापना समाप्त हुई ।

श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचिताया
काव्यालङ्कारदीपिकाया हिन्दीव्याख्यायां
प्रथमे शारीराऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ।

समस्तात्युद्भटपदामोजःकान्तिगुणान्विताम् ।
गौड़ीयामिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः ॥

उदाहरणम्,

[1]दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत-
टङ्कारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।
द्राक्पर्यस्तकपालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर-
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति ॥ १२ ॥

गुणों से समन्वित रीति को रीति [शास्त्र] के पण्डित 'गौडीया' रीति कहते हैं।

[गौडीया रीति का] उदाहरण [निम्न श्लोक है]

महाकवि भवभूतिनिर्मित 'महावीरचरितम्' नाटक के प्रथमाङ्क में रामचन्द्र के द्वारा शिव-धनुष के तोड दिए जाने के बाद यह लक्ष्मण की उक्ति है। लक्ष्मण कह रहे हैं कि रामचन्द्र जी के तोडे हुए धनुष का भयङ्कर शब्द अब तक भी शान्त नहीं हुआ है। श्लोक का शब्दार्थ इस प्रकार है—

[श्री रामचन्द्र जी के द्वारा अनायास] हाथ में उठाए हुए [चन्द्रशेखर] शिव जी के धनुष के दण्ड के टूटने से उत्पन्न हुआ और आर्य [रामचन्द्र जी] के बाल चरित्र रूप [उनके भावी जीवन की] प्रस्तावना का उद्घोषक, टङ्कार-ध्वनि [उस भीषण टङ्कार के कारण] एकदम कांप उठने [द्राक् झटिति पर्यस्ते चलिते] वाले [पृथ्वी तथा आकाश रूप छोटे-छोटे] कपाल-संपुटों में सीमित [छोटे से] ब्रह्माण्ड रूप भाण्ड [घडा आदि रूप बर्तन] के भीतर घूमने के कारण और अधिक भयङ्करता को प्राप्त होकर अब तक भी शान्त नहीं हुआ है। यह आश्चर्य है।

इसमें बन्ध की गाढ़ता और पदों की उज्ज्वलता के कारण 'ओज' और 'कान्ति' नामक दोनों गुण स्पष्ट हैं। इसलिए ग्रन्थकार ने इसे 'गौड़ी' रीति के उदाहरण रूप में यहा प्रस्तुत किया है ॥ १२ ॥

इसके बाद क्रमप्राप्त तीसरी पाञ्चाली रीति का निरूपण करते हैं।

---

[1] महावीरचरितम् १, १४।

माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली । १, २, १३ ।

माधुर्येण सौकुमार्येण च गुणेनोपपन्ना पाञ्चाली नाम रीतिः । ओजःकान्त्यभावादनुल्बणपदा विच्छाया च । तथा च श्लोकः—

अश्लिष्टशैथिल्यभावां तां पूरणच्छायया श्रिताम् ।
मधुरां सुकुमाराञ्च पाञ्चाली कवयो विदुः ॥

यथा,

[1]ग्रामेऽस्मिन् पथिकाय नैव वसतिः पान्थाधुना दीयते,
रात्रावत्र विहारमण्डपतले पान्थः प्रसुप्तो युवा ।
तेनोत्थाय खलेन गर्जति घने स्मृत्वा प्रियां तत्कृतम्,
येनाद्यापि करङ्कदण्डपतनाशङ्की जनस्तिष्ठति ॥

[ओज और कान्ति के विपरीत] 'माधुर्य' और 'सौकुमार्य' [रूप दो गुणों] से युक्त पाञ्चाली रीति होती है ।

'माधुर्य' तथा 'सौकुमार्य' गुणों से युक्त 'पाञ्चाली' नामक रीति होती है । [उसमें] ओज और कान्ति का अभाव होने से उसके पद [गाढत्व रूप 'ओज' से विहीन] सुकुमार और [कान्ति का अभाव होने से] विच्छाय [कान्तिविहीन] होते हैं । जैसा कि [उस 'पाञ्चाली' के विषय मे निम्न-लिखित प्राचीन] श्लोक है—

गाढबन्ध से रहित [ओजोविहीन] और शिथिल [अनुज्ज्वल] पद वाली, [गौडी रीति के विषय-भूत, 'ओज' के विपरीत] 'माधुर्य' और [कान्ति के विपरीत] 'सौकुमार्य' से युक्त सम्पूर्ण सौन्दर्य से शोभित 'रीति' को कवि 'पाञ्चाली' रीति कहते हैं ।

जैसे :—

हे पथिक इस ग्राम में अब पथिकों-को [रात्रि में ठहरने के लिए] स्थान नहीं दिया जाता है । [क्योंकि एक बार ऐसे ही किसी पथिक को यहां ठहरा लिया था, परन्तु] रात्रि में यहां विहार [बौद्ध मठ] के मण्डप के नीचे सोते हुए उस [नवयुवक पथिक] ने [वर्षा ऋतु की रात्रि में] मेघ के गर्जने पर उठ कर [उसके कारण] अपनी प्रिया को स्मरण करके वह

---

[1] शार्ङ्गधर पद्धतिः ३८३९ ।

एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति ॥ १३ ॥

तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात् । १, २, १४ ।

[कर्म] किया [जो कहने योग्य भी नहीं है और] जिसके कारण यहां [ग्राम] के लोग [पथिक के] वध के दण्ड की शङ्का से भयभीत हैं।

करङ्क शब्द का अर्थ टीकाकार ने 'शव' और 'तत्कृतं' से पथिक की मृत्यु सूचित होती है, ऐसी व्याख्या की है। अर्थात् वर्षा की रात्रि मे मेघों के गर्जन को सुनकर और अपनी प्रिया का स्मरण कर वह पथिक युवक इतना दुःखी और उत्तेजित हुआ कि दुःख के आवेग में उसकी मृत्यु हो गई। प्रातःकाल उसका शव पड़ा मिला। जिसके कारण यहा लोग यह समझने लगे कि इस पथिक की हत्या का दोष हमारे सिर पड़ेगा कि गाव वालो ने इसे मारकर इसका धन आदि छीन लिया है। इसलिए इसका दण्ड गाववालों को भोगना पड़ेगा। इस भय से ग्राम के लोग आज तक भयभीत हैं। इसलिए तब से इस गाव में रात्रि में किसी पथिक को ठहरने की अनुमति न दिए जाने का नियम बना लिया है।

किसी गृहस्थ के यहा कोई पथिक रात्रि को ठहरने के लिए स्थान मागने गया। उसके उत्तर में गृहपति, गृहस्वामिनी अथवा कुलवृद्धा का यह वचन उस दूसरे पथिक के प्रति कहा गया है।

इस पद्य में माधुर्य और सौकुमार्य गुण स्पष्ट प्रतीत हो रहे हैं और उनके कारण सम्पूर्ण पद्य सौन्दर्ययुक्त प्रतीत होता है इसलिए ग्रन्थकार ने इसे 'पाञ्चाली रीति' के उदाहरण रूप मे प्रस्तुत किया है।

इन तीन रीतियों के भीतर काव्य इस प्रकार समाविष्ट हो जाता है जिस प्रकार रेखाओं के भीतर चित्र प्रतिष्ठित होता है ॥ १३ ॥

इस प्रकार रीतियो का निरूपण करने के बाद उनके आपेक्षिक महत्त्व तथा उपादेयता के तारतम्य का प्रश्न स्वयं उपस्थित हो जाता है। क्या ये तीनों रीतिया समान महत्व की हैं अथवा उनकी उपादेयता में तारतम्य है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए ग्रन्थकार अगला प्रकरण प्रारम्भ करते हैं।

उनमें से प्रथम [अर्थात् वैदर्भी रीति] समस्त [अर्थात् दशों] गुणों से युक्त होने के कारण ग्राह्य है। [शेष दोनों उतनी ग्राह्य नहीं हैं]।

तासां तिसृणां रीतीनां पूर्वा वैदर्भी ग्राह्या गुणानां साकल्यात् ॥ १४ ॥

न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात् । १, २, १५ ।
इतरे गौड़ीयपाञ्चाल्यौ न ग्राह्ये, स्तोकगुणत्वात् ॥ १५ ॥

उन तीनों रीतियों में से प्रथम अर्थात् वैदर्भी [रीति सबसे अधिक] ग्राह्य है, सम्पूर्ण [दशों] गुणों से युक्त होने के कारण ॥१४॥

अन्य दोनों [गौड़ी तथा पाञ्चाली रीतियां] अल्प गुण [केवल दो-दो गुण] वाली होने से [उतनी] ग्राह्य नहीं हैं।

दूसरी गौड़ी और पाञ्चाली [यह दोनों रीतियां] स्वल्पगुण वाली [केवल दो-दो गुण वाली] होने से [उतनी] ग्राह्य नहीं हैं ॥१५॥

इन तीनो रीतियो में से वामन ने केवल वैदर्भी को ग्राह्य और शेष दोनों को अग्राह्य अथवा वैदर्भी की अपेक्षा अल्पग्राह्य कहा है। यह मत केवल उनका ही नहीं है अपितु अन्य अनेक सिद्धहस्त और प्रसिद्ध कवियों ने भी उनके इस मत का समर्थन किया है, अथवा कम-से-कम वैदर्भी रीति की अत्यधिक प्रशंसा की है। 'नवसाहसाङ्कचरितम्' काव्य के रचयिता श्री पद्मगुप्त परिमल ने वैदर्भी रीति को जहा सबसे उत्तम मार्ग कहा है वहा उसका अनुसरण तलवार की धार पर चलने के समान कठिन बताया है। उन्होंने लिखा है—

[1]तत्वस्पृशस्ते कवयः पुराणा श्रीभर्तृमेण्ठप्रमुखा जयन्ति ।
निस्त्रिंशधारासदृशेन येषा वैदर्भमार्गेण गिरः प्रवृत्ताः ॥

'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' के रचयिता महाकवि 'विल्हण' ने भी वैदर्भी रीति की अत्यन्त प्रशसा करते हुए लिखा है—

[2]अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः ।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम् ॥

महाकवि नीलकण्ठ ने अपने 'नलचरितम्' नामक नाटक में वैदर्भी रीति की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

[3]आदिः स्वादुषु या परा कवयता काष्ठा यदारोहणे,
या ते निःश्वसितं नवापि च रसा यत्र स्वदन्तेतराम्

---

[1] नवसाहसाङ्कचरितम् १, ५ ।
[2] विक्रमाङ्कदेवचरितम् १, ९ ।
[3] नलचरितम् नाटक अङ्क २ ।

पाञ्चालीति परम्परापरिचितो वादः कवीना पर,
वैदर्भी यदि सैव वाचि किमितः स्वर्गेऽपवर्गेऽपि वा ॥

नीलकण्ठ के मत मे 'वैदर्भी' रीति स्वादु, आह्लाददायक वस्तुओं मे सबसे प्रथम है। उसका अवलम्बन करने से कवियो को अपने कवित्व की परा-काष्ठा प्राप्त होती है। 'या ते निःश्वसितम्' जो वैदर्भी तेरी अर्थात् सरस्वती की प्राण स्वरूप है जिसमें नवो रसों का आस्वादन हो सकता है। कुछ लोग 'पाञ्चाली' को भी रीति कहते हैं परन्तु यह उन कवियों का केवल परम्परापरि-चितवादमात्र [भेड़चाल] है, उसमे तथ्य नही है। वास्तव मे तो वैदर्भी रीति ही इन गुणो से युक्त है। यदि वाणी मे उस वैदर्भी रीति का राज्य है तो फिर उसके सामने स्वर्ग या अपवर्ग में भी कुछ तत्व नही हैं।

महाकवि 'श्रीहर्ष' पण्डित कवि थे। उनकी कविता कठिन और शास्त्र-चर्चा बहुल है। परन्तु वह भी अपने को 'वैदर्भी' के पाश मे फसा हुआ पाते हैं। जैसे वैदर्भी दमयन्ती ने अपने सौन्दर्यादि गुणो से नैषध नल को अपनी ओर खीच लिया था इसी प्रकार 'समग्रगुणसम्पन्ना' वैदर्भी रीति ने महाकवि श्रीहर्ष के नैषध काव्य को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है। इस रहस्य को श्रीहर्ष श्लेष-मुख से स्वय ही स्वीकार करते हुए नैषध काव्य मे लिखते हैं—

[1]धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥

नैषध के श्लेषमय चौदहवें सर्ग में भी श्रीहर्ष ने श्लेष से वैदर्भी रीति की प्रशसा करते हुए लिखा है—

[2]गुणानामास्थानी नृपतिलकनारीति विदिता
रसस्फीतामन्तः तव च तव वृत्ते च कवितुः।
भवित्री वैदर्भीमधिकमधिकण्ठ रचयितुं
परीरम्भक्रीडा चरणशरणामन्वहमयम् ॥

अधिक क्या इस अध्याय के अन्त मे स्वय ग्रन्थकार वामन ने भी वैदर्भी रीति की प्रशसा मे दो प्राचीन श्लोक उद्धृत किए हैं। फलतः इस वैदर्भी रीति के सामने अन्य दोनों रीतिया हेय अर्थात् अल्प महत्व की हैं यह वामन का अभिप्राय है। जिसे उन्होंने इन दोनो सूत्रो मे अभिव्यक्त किया है ॥ १५ ॥

---

[1] नैषध ३, ११६ ॥

[2] नैषध १४, ९१ ॥

तदारोहणार्थमितराभ्यास इत्येके ॥ १, २, १६ ॥

तस्या वैदर्भ्या एवारोहणार्थमितरयोरपि रीत्योरभ्यास इत्येके मन्यन्ते ॥ १६ ॥

तच्च न, अतत्त्वशीलस्य तत्त्वानिष्पते. ॥१, २, १७॥

न ह्यतत्त्वं शीलयतस्तत्त्वं निष्पद्यते ॥ १७ ॥

निदर्शनमाह—

न शणसूत्रवानाभ्यासे त्रसरसूत्रवानवैचित्यलाभ ॥१,२,१८॥

कुछ लोगो का मत है कि वैदर्भी मार्ग की प्राप्ति का साधन पाञ्चाली तथा गौडी रीतियों का अभ्यास है। अर्थात् गौड़ी तथा पञ्चाली रीति मे रचना करना सरल है और उसका अभ्यास करते-करते कवि समय पर वैदर्भी रीति में रचना करने में भी समर्थ हो सकता है। परन्तु वामन इस मत के अत्यन्त विरुद्ध हैं। उनका कहना है कि अतत्त्व के अभ्यास से तत्व को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। जैसे सन की सुतली से टाट की पट्टी बुनने वाला व्यक्ति अपने उस अभ्यास से टसर के सुन्दर रेशमी वस्त्र बुनने में कौशल प्राप्त नहीं कर सकता है। इसी प्रकार पाञ्चाली तथा गौड़ी रीतियों का अभ्यास करने वाला कवि उनके अभ्यास के द्वारा वैदर्भी रीति मे अभ्यास-पाटव प्राप्त नहीं कर सकता है। इसी बात को ग्रन्थकार आगे कहते हैं।

उस [वैदर्भी रीति] के आरोहण के लिए दूसरी [गौडी तथा पाञ्चाली रीति] का अभ्यास [उपयोगी या साधनभूत होता] है ऐसा कोई लोग मानते हैं।

उस [वैदर्भी रीति] के आरोहण [उसकी प्राप्ति] के लिए ही शेष दोनों [गौडी तथा पाञ्चाली] रीतियों का अभ्यास होता है ऐसा कोई लोग मानते हैं ॥ १६ ॥

उनके मत का खण्डन करते हैं—

वह ठीक नहीं है। अतत्त्व के अभ्यास से तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती।

अतत्त्व का अभ्यास करने वाले को तत्त्व की सिद्धि नहीं होती है ॥ १७ ॥

[अपने इस कथन की पुष्टि में] उदाहरण [के लिए] कहते हैं—

सन की डोरी [की पट्टियों] के बुनने के अभ्यास करने पर टसर

न हि शणसूत्रवानमभ्यसन् कुविन्दस्त्रसरसूत्रवानवैचित्र्य लभते ॥ १८ ॥

सापि समासाभावे शुद्धवैदर्भी । १, २, १९ ।

सापि वैदर्भी शुद्धवैदर्भी भण्यते, यदि समासवत् पदं न भवति ॥१९॥

तस्यामर्थगुणसम्पदास्वाद्या । १, २, २० ।

[रेशम] के सूत्र के बुनने में विचक्षणता [कौशल] की प्राप्ति नहीं होती है ।

सन के सूत्र से बुनने का अभ्यास करने वाला बुनकर टसर [रेशम] के सूत्र के बुनने में वैचित्र्य को प्राप्त नहीं करता है ।

इसी प्रकार का एक प्रसङ्ग योगदर्शन के प्रथम पाद में आया है। योग दर्शन में सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दो प्रकार की समाधि मानी गई है। जिस प्रकार यहा अतत्त्व के अभ्यास से तत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है यह कहा है, उसी प्रकार वहा सम्प्रज्ञात या सालम्बन समाधि के अभ्यास से असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि नही हो सकती है यह बात कही गई है ।

[1]'सालम्बनो ह्यभ्यासस्तत्साधनाय न कल्पत इति विरामप्रत्ययो निर्वस्तुक आलम्बनीक्रियते ।' ॥ १८ ॥

ऊपर जिस समग्रगुण विभूषित वैदर्भी रीति का वर्णन किया है वह और भी उत्कृष्ट शुद्ध वैदर्भी हो जाती है यदि उसमें समास का प्रयोग न हो । इसको ग्रन्थकार आगे कहते हैं ।

वह [वैदर्भी रीति] भी समास के न होने पर [और भी उत्कृष्ट] शुद्ध वैदर्भी कहलाती है ।

वह वैदर्भी भी शुद्ध वैदर्भी कही जाती है यदि उसमें समासयुक्त पद न हों । [वैदर्भी का भी उत्कृष्ट रूप यह शुद्ध वैदर्भी है । यह अभिप्राय है] ॥ १९ ॥

उसमें अर्थ गुणों का वैभव [सम्पत्ति, समग्रता, पूर्ण सौन्दर्य, आस्वाद्य अर्थात] अनुभव करने योग्य होता है ।

---

[1] योग० १, १८ ।

तस्यां वैदर्भ्यामर्थगुणसम्पदास्वाद्या भवति ॥२०॥

तदुपारोहादर्थगुणलेशोऽपि । १, २, २१ ।

तदुपघानतः खल्वर्थलेशोऽपि स्वदते । किमङ्ग पुनरर्थगुणसम्पत् । तथा चाहुः—

उस वैदर्भी [रीति] में अर्थगुणों का वैभव आस्वाद के योग्य होता है ।

वामन ने जो दश गुण माने हैं उनको शब्दगुण तथा अर्थगुण दोनों रूप मे माना है । उनके नाम दोनों जगह समान हैं परन्तु लक्षण दोनों जगह भिन्न-भिन्न हैं। इनमें से शब्दगुणों का क्षेत्र कुछ सीमित है परन्तु अर्थगुणों का क्षेत्र बहुत व्यापक है। उसमें वस्तुतः काव्य के उपयोगी और उत्कर्षाधायक प्रायः समस्त अंशों का समावेश हो जाता है । (१) अर्थ की प्रौढ़ि 'ओज' नाम से, (२) उक्ति का वैचित्र्य 'माधुर्य' नाम से, (३) नवीन अर्थ की कल्पना अर्थदृष्टिरूप 'समाधि' नाम से,(४) रसो का प्रकर्ष कान्ति नाम से, (५) अर्थवैमल्य प्रसाद नाम से, इत्यादि रूप से काव्य के उत्कर्षाधायक समस्त अंशों का समावेश अर्थगुणों के अन्तर्गत हो जाता है । वह सारी अर्थ सम्पत्ति वैदर्भी रीति के अन्तर्गत आस्वाद्य अथवा अलौकिक चमत्कार रूप से अनुभव योग्य होती है । इसीलिए वैदर्भी रीति विशेषरूप से ग्राह्य और प्रशंसा के योग्य मानी गई है ॥ २० ॥

वैदर्भी रीति में अर्थगुणों की सम्पत्ति या वैभव तो अनुभव योग्य होता ही है परन्तु यदि उसमें गुणो का पूर्ण विकास न हुआ हो और लेश मात्र ही हो तो उस लेशमात्र का भी सौन्दर्य कुछ अलौकिक रूप से भासने लगता है। जिसके कारण उसमें वर्णित एक छोटी-सी बात भी बडी चमत्कार युक्त प्रतीत होती है । इसी बात को ग्रन्थकार अगले सूत्र में कह रहे हैं ।

उस [वैदर्भी रीति] के सहारे मे अर्थगुणों का लेश मात्र भी आस्वाद योग्य हो जाता है [अर्थगुण-सम्पत्ति की तो बात ही क्या ।]

उस [वैदर्भी रीति] के सहारे से अर्थ का लेश [सामान्य अर्थ] भी आस्वाद योग्य हो जाता है अर्थगुण सम्पत्ति की तो बात ही क्या कहना ।

जैसा कि [वैदर्भी रीति की प्रशंसा में लिखे गए निम्न श्लोकों में] कहा है—

किन्त्वस्ति काचिदपरैव पदानुपूर्वी,
यस्यां न किञ्चिदपि किञ्चिदिवावभाति ।
आनन्दयत्यथ च कर्णपथं प्रयाता,
चेतः सतामभृतवृष्टिरिव प्रविष्टा ॥

किन्तु वह [वैदर्भी रीतिमयी] कुछ और ही [प्रकार की लोकोत्तर] पद रचना है जिसमें [निबद्ध होने पर] न कुछ [तुच्छ या असत्] सी वस्तु भी कुछ [अलौकिक चमत्कारमय] सी प्रतीत होती है । और सहृदयों के कर्ण-गोचर होकर उनके चित्त को इस प्रकार आह्लादित करती है मानो [कहीं से] अमृत की वर्षा हो रही है।

इस श्लोक की व्याख्या के प्रसङ्ग में श्री गोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालविरचित 'वामनालङ्कार सूत्रवृत्ति' की कामधेनु नामक व्याख्या में इसके पूर्वार्द्ध रूप मे यह दो पक्तिया और उद्धृत की है ,

जीवन् पदार्थपरिरम्भणमन्तरेण
शब्दावधिर्भवति न स्फुरणेन सत्यम् ।

इन पक्तियों का अभिप्राय यह है कि जीवित अर्थात् चमत्कारयुक्त पदार्थ के बिना केवल वैदर्भी रीति के स्फुरणमात्र से वाक्य या काव्य के सौदर्य की पराकाष्ठा नही होती है, यह सत्य है किन्तु, इस प्रकार इस पूर्वार्द्ध की अगले श्लोक के साथ सङ्गति तो लग जाती है परन्तु वह इस 'किन्त्वस्ति० इत्यादि श्लोक का पूर्वार्द्ध नही है । किन्तु इसके पूर्व यदि एक पूर्वपक्ष का श्लोक दिया जाय यह पंक्तिया उस पूर्वपक्ष के श्लोक का उत्तरार्द्ध हो सकती हैं ।

परन्तु यह श्लोक स्वयं परिपूर्ण है। ग्रन्थकार ने पूरा श्लोक उद्धृत किया है । केवल उत्तरार्द्ध नहीं । फिर टीकाकार ने न जाने क्यों 'अत्र... इति पूर्वार्द्ध पठन्ति' लिख कर ऊपर की दोनों पक्तिया उद्धृत की हैं । श्लोक में आए हुए 'न किञ्चिदिव' शब्द का असद्वस्तु और 'किञ्चिदिवावभाति' का अर्थ 'सदिवावभाति' यह अर्थ टीकाकार ने भी अपनी टीका मे दिया है ।

ग्रन्थकार श्री वामन वैदर्भी रीति की प्रशसा में आगे एक और श्लोक उद्धृत करते हैं—

वचसि यमधिगम्य स्पन्दते वाचकश्री-
र्वितथमवितथत्व यत्र वस्तु प्रयाति।
उदयति हि स तादृक् क्वापि वैदर्भीरीतौ
सहृदयहृदयानां रञ्जकः कोऽपि पाकः ॥२१॥

साऽपि वैदर्भी तात्स्थ्यात् । १, २, २२ ।

सापीयमर्थगुणसम्पद् वैदर्भीत्युक्ता । तात्स्थ्यादित्युपचारतो व्यवहारं दर्शयति ॥ २२ ॥

जिस [वैदर्भी रीति] को [काव्य रूप] वाक्य में प्राप्त करके शब्द सौन्दर्य [वाचकश्री.] थिरकने लगता है, जहां [वैदर्भी रीति में पहुंच कर] नीरस [वितथ] वस्तु भी सरस [अवितथ] हो उठती हैं, सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करने वाला कुछ ऐसा अनिर्वचनीय शब्दपाक वैदर्भी रीति में [हो] कहीं उदय हो जाता है । [जिसके कारण शब्द शोभा मानों नाचने सी लगती है और नीरस वस्तु भी सरस हो जाती है । टीकाकार ने वितथ शब्द का अर्थ नीरस और अवितथ शब्द का अर्थ सरस किया है ।] ॥ २१ ॥

उस [वैदर्भी रीति] में रहने के कारण वह [अर्थगुण सम्पत्ति भी] [उपचार या लक्षणा से] वैदर्भी [नाम से कही जा सकती] है ।

वह अर्थगुण सम्पत्ति भी वैदर्भी [नाम से] कही गई है । [सूत्र में प्रयुक्त 'तात्स्थ्यात्' इस पद से] उस [वैदर्भी रीति] में स्थित होने के कारण [अर्थसम्पत्ति भी वैदर्भी नाम से कही गई है]। इस प्रकार उपचार [लक्षणा] से व्यवहार दिखलाते हैं ।

किसान लोग खेतों की रक्षा के लिए उनसे मचान बना कर और उन पर बैठ कर अनाज आदि को खाने वाले पक्षी आदि को उड़ाते हैं। वहा पक्षियों को उड़ाने की आवाज मचानों पर स्थित पुरुष देते है परन्तु वहा 'मञ्चाः क्रोशन्ति—मचान पुकारते हैं'—इस प्रकार का व्यवहार होता है । यह व्यवहार 'तात्स्थ्य' सम्बन्ध से लक्षणा वृत्ति के द्वारा गौण रूप से होता है। वहा जैसे 'तात्स्थ्य' सम्बन्ध से मञ्चस्थ पुरुषो के लिए मञ्च शब्द का औपचारिक प्रयोग होता है, इसी प्रकार यहा वैदर्भी रीति में स्थित अर्थगुणसम्पत्ति के लिए भी उपचार अर्थात् लक्षणा से वैदर्भी शब्द का प्रयोग किया गया है। यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है।

भामहकालीन दो मार्गों का सिद्धान्त—

वामन ने इस अध्याय मे 'वैदर्भी', 'पाञ्चाली' तथा 'गौड़ी' इन तीन

रीतियों का वर्णन किया है और उन्हीं को काव्य की आत्मा माना है। वामन के पूर्ववर्ती भामह ने रीति के स्थान पर 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है और उसके तीन की जगह केवल दो भेद किए हैं—'वैदर्भ मार्ग' तथा 'गौड़ीय मार्ग'। ऐसा प्रतीत होता है कि भामह के समय मे काव्य-रचना के यह दो मार्ग प्रचलित थे। परन्तु वह स्वयं दोनों मार्गों का भेद मानने के पक्ष में नहीं हैं। मार्ग-भेद के विषय मे अरुचि सी दिखलाते हुए उन्होंने लिखा है—

[1]वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियः परे।
तदेव च किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम् ॥ ३१ ॥
गौड़ीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम् ॥ ३२ ॥
ननु चाश्मकवंशादि वैदर्भमिति कथ्यते।
कामं तथास्तु प्रायेण सञ्ज्ञेच्छातो विधीयते ॥ ३३ ॥
अपुष्टार्थमवक्रोक्तिं प्रसन्नमृजु कोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदन्तु केवलं श्रुतिपेशलम् ॥ ३४ ॥
अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौड़ीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा ॥ ३५ ॥

इसका अभिप्राय यह है कि कुछ लोग 'वैदर्भ मार्ग' को 'गौड़ीय मार्ग' से अलग मानते हैं और यह कहते हैं कि वही 'वैदर्भ मार्ग' उत्तम मार्ग है। सदर्थ युक्त होने पर दूसरा अर्थात् 'गौड़ीय मार्ग' उस वैदर्भ 'मार्ग' के बराबर नहीं हो सकता है। परन्तु भामहाचार्य का कथन यह है कि यह 'वैदर्भ' और 'गौड़ीय' मार्ग के भेद की कल्पना व्यर्थ है। मूर्ख लोग गतानुगतिक न्याय से, या भेड़-चाल से क्या नहीं कह सकते हैं। सब प्रकार की अनर्गल बातें कहने लगते हैं। अर्थात् उनके मतानुसार यह 'वैदर्भ' तथा 'गौड़ीय' मार्ग के भेद की कल्पना केवल भेड़-चाल के आधार पर चल रही है और मूर्खतापूर्ण है।

कोई यदि यह कहे कि नहीं, मार्ग की यह कल्पना निराधार नहीं है अपितु देश के आधार पर की गई है। अश्मक वंश आदि देश विदर्भ कहलाता है। उसी के आधार पर 'वैदर्भमार्ग' माना जाता है। और वह 'गौड़ीयमार्ग' से भिन्न है। इसके उत्तर में भामहाचार्य कहते हैं कि यह वैदर्भ आदि संज्ञाएं तो आपने अपनी इच्छा के अनुसार कर ली हैं। काव्य का सौन्दर्याधायक तत्व तो एक ही है। उसे चाहे 'वैदर्भ मार्ग' से, चाहे 'गौड़ीय मार्ग' से निरू-

[1] [illegible]

पण करो यदि वह तत्व आ जाता है तो दोनों अवस्थाओं में काव्य उपादेय होगा अन्यथा उससे भिन्न होने पर 'वैदर्भ मार्ग' भी काव्य को उपादेय नहीं बना सकता है। यदि अलङ्कारयुक्त, ग्राम्यता दोष से रहित, सुन्दर अर्थ से युक्त और सुसङ्गत काव्य है तो वह भले ही 'गौड़ीय मार्ग' से लिखा गया हो, वह अवश्य सहृदयों के हृदय मे चमत्कार को उत्पन्न करेगा। और यदि इन गुणों से विहीन काव्य है तो फिर वह भले ही 'वैदर्भ मार्ग' से लिखा गया हो वह सहृदयों के लिए चमत्कारजनक नहीं हो सकता है।

इस प्रकार भामह ने अपने समय के मार्गों के प्रचलित भेद के प्रति अरुचि प्रकट की है परन्तु उस से यह स्पष्ट है कि वामन की तीन रीतियो के स्थान पर भामह के समय दो मार्ग का मानने वाला कोई सम्प्रदाय प्रचलित था।

कुन्तक का त्रिमार्ग सिद्धान्त—

'वक्रोक्ति जीवितम्' नामक प्रसिद्ध सहित ग्रन्थ के निर्माता कुन्तक ने देश के आधार पर माने गए दोनों मार्गों तथा वामन की तीनों रीतियो का खण्डन कर 'रचना शैली' के आधार पर 'सुकुमार', 'मध्यम' और 'विचित्र' इन तीन प्रकार के मार्गों का प्रतिपादन किया है।

[1] सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः॥

अर्थात् काव्य रचना के केवल तीन मार्ग हो सकते हैं। न इससे कम एक या दो और न इससे अधिक चार या पाच। इन तीनो मार्गों में से पहिला सुकुमार, दूसरा विचित्र और तीसरा सुकुमार तथा विचित्र के योग से बना मध्यम मार्ग है।

देशाश्रित रीतिवाद तथा मार्गवाद का खण्डन—

विदर्भादि देशों के आधार पर मानी गई वामन की तीन रीतियों तथा भामह द्वारा उल्लिखित दो मार्गों के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कुन्तक ने लिखा है—

[2]अत्र बहुविधा विप्रतिपत्तयः सम्भवन्ति। यस्माच्चिरन्तनैर्विदर्भादिदेशसमाश्रयेण वैदर्भीप्रभृतयो रीतयस्तिस्रः समाम्नाताः। तासा चोत्तमाधममध्यमत्वेन त्रैविध्यम्। अन्यैश्च वैदर्भगौड़ीयलक्षणं मार्गद्वितयमाख्यातम्। एतच्चोभयमप्ययुक्ति-

[1] वक्रोक्तिजीवितम् १, २४। [2] वक्रोक्तिजीवितम् १, २४।

युक्तम् । यस्माद्देशभेदनिबन्धनत्वे रीतिभेदाना देशानामानन्त्यादसख्यत्वं प्रसज्यते । न च विशिष्टरीतियुक्तत्वेन काव्यकरणं मातुलेयभगिनीविवाहवद् देशधर्मतया व्यवस्थापयितुं शक्यम् । देशधर्मो हि वृद्धव्यवहारपरम्परामात्रशरणः शक्यानुष्ठानता नातिवर्तते । तथाविधकाव्यकरणं पुनः शक्त्यादिकारणकलाप-साकल्यमपेक्षमाणो न शक्यते यथाकथञ्चिदनुष्ठातुम्[1] ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि मार्ग के विषय में अनेक प्रकार के मत-भेद हो सकते हैं । क्योंकि वामन आदि प्राचीन आचार्यों ने विदर्भ आदि देश विशेष के आश्रय से वैदर्भी आदि तीन रीतिया मानी है । और उन रीतियों में वैदर्भी को सर्वोत्तम मान कर उत्तम, मध्यम, अधम रूप से तीन विभाग किए हैं । इसके अतिरिक्त भामह के काव्यालङ्कार मे पाए जाने वाले मत के अनुसार अन्य लोगों ने वैदर्भ तथा गौड़ीय रूप दो प्रकार के मार्ग माने हैं । यह दोनो मत युक्तिसङ्गत नही हैं । क्योंकि काव्य रचना की रीतियो को यदि देशविशेष के आधार पर विभक्त किया जायगा तो देशो के अनन्त होने से रीतियों की अनन्तता माननी होगी । जो कि असङ्गत है । किसी देशविशेष मे प्रचलित ममेरी बहिन के साथ विवाह आदि के समान रीतियों को दैशिक आचारमात्र नहीं माना जा सकता है । क्योंकि दैशिक आचार में तो केवल वृद्धव्यवहार-परम्परा ही प्रमाण है । इसी लिए वृद्धव्यवहार के अनुसार उसका अनुष्ठान किया जा सकता है परन्तु काव्य की रचना तो वृद्धव्यवहार के ऊपर आश्रित नहीं हैं । उसके लिए तो शक्ति और व्युत्पत्ति आदि कारणकलाप की आवश्यकता होती है । उसके बिना केवल दैशिक धर्म के रूप मे काव्य की रचना नही की जा सकती है । इसलिए दैशिक आचारों के समान देश-भेद के आधार पर काव्य-रचना की रीतियों का भेद करना उचित नहीं है ।

[2]किञ्च शक्तौ विद्यमानायामपि व्युत्पत्त्यादिराहार्यकारणसम्पत् प्रतिनियत-देशविषयतया न व्यवतिष्ठते । नियमनिबन्धनाभावात् तत्रादर्शनादन्यत्र च दर्शनात् ।

और शक्ति के होने पर भी व्युत्पत्ति आदि उपार्जित कारण सामग्री की भी काव्य-रचना मे आवश्यकता होती है । वह कारण-सामग्री भी किसी देशविशेष में नियमित नहीं है । क्योंकि विदर्भ आदि उस-उस देश में रहने वाले अन्य बहुत से पुरुषों को उस प्रकार की शक्ति तथा व्युत्पत्ति प्राप्त नही होती है और उस देश से भिन्न स्थल में भी उस प्रकार की सामग्री प्राप्त हो जाती है । इसलिए काव्य-

[1],[2] वक्रोक्तिजीवितम् का० १, २४ ।

रचना की कोई भी समग्री देशविशेष के ऊपर अवलम्बित नहीं है। न प्रतिभा किसी देशविशेष से सम्बन्ध रखती है और न व्युत्पत्ति आदि। वह दोनो प्रकार की सामग्री सब देशो और कालों में सर्वत्र उपलब्ध हो सकती है। सभी देशों में उत्तम कवि हो सकते हैं। इसलिए देशविशेष के आधार पर काव्य-रचना की रीतियों का विभाजन करना उचित नही है।

आगे देश-भेद के आधार पर मानी हुई उन रीतियों के उत्तम, मध्यम, अधम भाव का मानना भी उचित नहीं है, यह दिखलाते हुए कुन्तक लिखते हैं—

[1]न च रीतीनामुत्तमाधममध्यमत्वभेदेन त्रैविध्यमवस्थापयितु न्याय्यम्। यस्मात् सहृदयाह्लादकारिकाव्यलक्षणप्रस्तावे वैदर्भीसदृशसौन्दर्यासम्भवान्मध्यमाधमयोरुपदेशवैयर्थ्यमायाति। परिहार्यत्वेनाप्युपदेशो न युक्ततामवलम्बते। तैरेवानभ्युपगतत्वात्। नचागतिकगतिन्यायेन यथाशक्ति दरिद्रदानादिवत् काव्यं करणीयतामर्हति। तदेव निर्वचनसमाख्यामात्रकरणकारणत्वे देशविशेषाश्रयणस्य वयं न विवदामहे। मार्गद्वितयवादिनामप्येतान्येव दूषणानि। तदलमनेन निःसारवस्तुपरिमलनव्यसनेन।

अर्थात् देशविशेष के आधार पर मानी गई रीतियों का जो उत्तम, मध्यम अधम रूप से तीन प्रकार का जो विभाजन किया गया है वह भी उचित नहीं हुआ। क्योंकि सहृदयहृदयाह्लादकारी काव्य की रचना के प्रसङ्ग मे यह तीन प्रकार का रीतिविभाग किया गया है। और यह कहा गया कि वैदर्भी रीति सबसे अधिक सहृदयहृदयाह्लादकारी है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि अन्य रीतिया 'वैदर्भी' के समान हृदयाह्लादक नही हो सकती हैं। अतः जो सहृदयहृदयाह्लादकारी है वही काव्य की एकमात्र रीति हो सकती है। इसलिए तीन रीतिया नही अपितु केवल एक ही रीति माननी चाहिए। शेष दो रीतियो का उपदेश व्यर्थ हो जाता है। यदि यह कहा जाय कि शेष रीतियों का उपदेश उनके परित्याग के लिए किया गया है तो यह कहना उचित नहीं होगा क्योंकि रीतियों का प्रतिपादन करने वाले वामन इस बात को नहीं मानते हैं कि शेष रीतियों का उपदेश उनका परित्याग करने के लिए किया गया है। दो मार्गों के मानने में भी यही दोष आते हैं।

इस प्रकार कुन्तक ने देशभेद के आधार पर माने गए दो मार्ग और तीन रीतियो के सिद्धान्त का खण्डन कर वस्तुतः 'शैली' के आधार पर सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम मार्ग का निरूपण किया है।

---

[1] वक्रोक्तिजीवितम् का० १, २४।

इति श्री पण्डितवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ
'शारीरे' प्रथमेऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः ।
अधिकारिचिन्ता रीतिनिश्चयश्च ।

पाश्चात्य 'रीति' विवेचन—

न केवल भारतीय साहित्य में अपितु पाश्चात्य साहित्य मे भी 'रीतियों' का विवेचन बडे सुन्दर ढंग से किया गया है। पाश्चात्य दर्शन तथा साहित्य के जन्मदाता प्रसिद्ध यूनानी विद्वान् 'अरस्तू' ने साहित्य शास्त्र सम्बन्धी दो महत्व-पूर्ण है ग्रन्थ लिखे हैं जिनके नाम 'रेटारिक्स' तथा 'पोइटिक्स' है । इनमे से 'रेटारिक्स' के तृतीय खण्ड में रीतियो का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। अरस्तू ने 'साहित्यिक' तथा 'वादात्मक' दो प्रकार की रीतियों का विवेचन किया है। हमारे यहा 'साहित्यिक' रीतियों का विवेचन साहित्यशास्त्र मे और 'वादात्मक' रीतियों का विवेचन न्याय शास्त्र में किया गया है।

'अरस्तू' के बाद 'डिमेट्रियस' नामक एक और प्रसिद्ध यूनानी आलङ्का-रिक ३०० ईसवी पूर्व हुए हैं। उन्होने 'आन स्टाइल' [On Style] नामक उत्कृष्ट ग्रन्थ रीति ग्रन्थ मे चार प्रकार की रीतिया मानी हैं—

१ प्रसन्न मार्ग [Plain Style], २ उदात्त मार्ग [Stately Style]
३ मसृण मार्ग [Polished Style], ४ ऊर्जस्वी मार्ग [Powerful Style]

हमारे यहा जैसे 'कुन्तक' ने अपने मार्गों के साथ अथवा वामन ने अपनी रीतियों के साथ गुणो का सम्बन्ध प्रदर्शित किया है, इसी प्रकार 'डिमेट्रियस' ने भी अपने मार्गों के साथ गुणो का सम्बन्ध दिखलाया है। उन गुणों के अभाव में चार दूषित रीतिया उत्पन्न हो जाती हैं—

१ शिथिल मार्ग [Frigid Style], २ कृत्रिम मार्ग [Affected Style],
३ नीरस मार्ग [Arid Style], ४ अननुकूल मार्ग [Disagreeable Style]

श्री पण्डितवामनविरचित 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' में
प्रथम 'शारीराधिकरण' में द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ।
अधिकारिचिन्ता और रीतिनिश्चय समाप्त हुआ ।

श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां
काव्यालङ्कारदीपिकायां हिन्दीव्याख्यायां
प्रथमे शारीराऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ।

शारीरनाम्नि प्रथमाधिकरणे
तृतीयोऽध्यायः
[काव्याङ्गानि काव्यविशेषाश्च]

अधिकारिचिन्तां रीतितत्वञ्च निरूप्य काव्याङ्गान्युपदर्शयितुमाह—

लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि । १, ३, १ ।

शारीर नामक प्रथम अधिकरण में तृतीय अध्याय

[काव्य के अङ्ग और काव्य के भेद]

पिछले अध्याय में ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ के 'अधिकारी' तथा उसके प्रतिपाद्य विषय के मुख्य भाग 'रीति' का विवेचन किया था । उसके पूर्व अर्थात् प्रथमाधिकरण के प्रथम अध्याय मे ग्रन्थ के 'प्रयोजन' का निरूपण कर चुके हैं । इस प्रकार इन विगत दो अध्यायो में 'अनुबन्ध चतुष्टय' में से 'अधिकारी', 'प्रयोजन' और 'विषय' इन तीनों अनुबन्धो का निरूपण हो गया । अब शेष चौथा 'सम्बन्ध' नामक अनुबन्ध रह जाता है । उसके स्पष्ट होने से ग्रन्थकार ने अलग नहीं दिखाया है । ग्रन्थ का, विषय के साथ 'प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव', और अधिकारी के साथ 'बोध्य-बोधकभाव' सम्बन्ध सदा ही होता है । इसलिए उसको अलग दिखलाने की अधिक आवश्यकता नहीं है । इस प्रकार यहा तक 'अनुबन्ध चतुष्टय' का निरूपण कर चुकने के बाद ग्रन्थकार अब अपने विषय का प्रतिपादन प्रारम्भ करते हैं ।

जैसे पिछले अध्याय मे 'अधिकारी' तथा 'रीति निश्चय' रूप दो विषयों का प्रतिपादन किया था इसी प्रकार इस अध्याय में 'काव्य के अङ्ग' और 'काव्य के भेद' इन दो विषयों का निरूपण करेंगे । काव्य के अङ्ग शब्द से काव्य के अवयवों का नहीं अपितु साधनो का ग्रहण करना चाहिए । ग्रन्थकार इस अध्याय के प्रारम्भिक २० सूत्रों में काव्य के साधनों का और अन्तिम १२ सूत्रों में काव्य के मुख्य भेदो का निरूपण करेंगे । सबसे पूर्व पिछले अध्याय के साथ इस अध्याय की सङ्गति जोड़ते हुए ग्रन्थकार अध्याय का प्रारम्भ करते हैं—

अधिकारिचिन्ता और रीतिनिश्चय का [पिछले अध्याय में] निरूपण करके [अब इस अध्याय में] काव्य के साधनों [अङ्गों] को दिखलाने के लिए कहते हैं—

(१) लोक [अर्थात् स्थावर-जङ्गमात्मक लोक का व्यवहार], (२) विद्या

चौदह अथवा अठारह भेदों से प्रसिद्ध समस्त विद्याएं], और ३. [काव्यों का ज्ञान, काव्यज्ञों की सेवा, पदों के निर्वाचन की सावधानता, और स्वाभाविक प्रतिभा, तथा उद्योग रूप पांच को मिलाकर], प्रकीर्ण [फुटकर इस प्रकार यह तीन मुख्य] काव्य [निर्माण में कौशल प्राप्त करने] के साधन हैं ॥ १ ॥

काव्य के इन्हीं साधनों को लेकर काव्यप्रकाशकार श्री मम्मटाचार्य ने अपने ग्रन्थ में काव्य के हेतुओं का इस प्रकार निरूपण किया है—

[1]शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

इसमें वामन के लोक और विद्या दोनों का 'लोकशास्त्राद्यवेक्षणात् निपुणता' के अन्तर्गत और प्रकीर्ण में से शक्ति को अलग करके तथा वृद्धसेवा आदि को 'काव्यज्ञशिक्षयाभ्यासः' मे अन्तर्गत करके, 'काव्यप्रकाशकार' ने भी वामन के समान ही ८ काव्याङ्गों को मुख्य रूप से तीन काव्य-साधनों के रूप में प्रस्तुत किया है। वामन के पूर्ववर्ती आचार्य 'भामह' ने काव्य के साधनों का निरूपण इस प्रकार किया है—

[2]शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः ।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्ययैरमी ॥९॥
शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम् ।
विलोक्यान्यनिबन्धाश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ॥१०॥

इन सब काव्याङ्गों के निरूपण की तुलना करने से प्रतीत होता है कि काव्य के साधन सब लोगों की दृष्टि में लगभग एक जैसे ही हैं। परन्तु उन्हीं के पौर्वापर्य अथवा विभाग आदि में भेद करके भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से उनका निरूपण कर दिया है।

भामह के ऊपर उद्धृत किए हुए श्लोकों में अन्तिम पद का पाठ भ्रष्ट मालूम होता है। ग्रन्थ के सम्पादक महोदय स्वय भी शुद्ध पाठ का निश्चय नहीं कर सके हैं। उन्होने मूल में ही 'काव्ययैर्वशी' और 'काव्ययैरमी' यह दो पाठ दिए हैं। और एक तीसरा पाठ 'काव्ययैद्यमी' नीचे टिप्पणी रूप में दिया है। इन तीनों में से किसी से भी अर्थ की सङ्गति ठीक नहीं लगती है। फिर भी 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' इस सिद्धान्त के अनुसार

[1] काव्यप्रकाश १, २। [2] भामह काव्यालङ्कार १, ९-१०।

उद्देशक्रमेणैतद् व्याचष्टे—

लोकवृत्त लोकः । १, ३, २ ।

लोकः स्थावरजङ्गमात्मा । तस्य वर्तनं वृत्तमिति ॥ २ ॥

स्थित पाठ की ही व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है। इस पाठ मे वस्तुतः 'काव्ययैः' पद अस्पष्ट है। उसको यदि 'काव्यं याति इति काव्ययः' अर्थात् जो काव्य निर्माण की ओर चलना चाहता है वह 'काव्यय' हुआ ऐसा अर्थ कर लें तो पाठ की कथञ्चित् सङ्गति लग जावेगी। उस दशा मे प्रथम श्लोक का अर्थ यह हो जावेगा कि जो काव्य निर्माण की ओर प्रवृत्त होना चाहे उस अभिनव कविपदाकाङ्क्षी को 'शब्द-स्मृति' अर्थात् 'व्याकरण', छन्द, कोश, इतिहासाश्रित कथाएं, लोकव्यवहार, न्यायादि युक्तिशास्त्र और चौसठ प्रकार की कलाओं का मनन और ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यह पहिले श्लोक का अर्थ हुआ। और उसके बाद शब्द और अर्थ को भली प्रकार समझ कर, दूसरे महाकवियो के काव्यो का अवलोकन, तथा काव्यज्ञ विद्वानो की सत्सङ्गति करते हुए काव्यरचना का अभ्यास करना चाहिए। यह भामह के काव्यसाधन-प्रतिपादक दोनों श्लोको का भावार्थ हुआ। वामन ने भी प्रायः इन्हीं साधनो का निरूपण किया है।

[1]'नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तन उद्देशः'—नाम मात्र से वस्तु के कथन करने अर्थात् पदार्थों के केवल नाम गिनाने को 'उद्देश' कहते हैं। जैसे कि यहा प्रथम सूत्र मे लोक, विद्या, और प्रकीर्ण यह काव्याङ्गों के नाम मात्र गिना दिए हैं। उनका लक्षण आदि नही किया है। इसी को 'उद्देश' कहते हैं। 'उद्देश' के समय पदार्थों के पौर्वापर्व का जो क्रम रहता है उसी क्रम से आगे उनकी व्याख्या, लक्षण आदि किए जाते हैं। इसलिए यहा भी ग्रन्थकार 'उद्देश-क्रम' से काव्याङ्गो के लक्षण आदि करने के लिए अवतरणिका करते हैं—

उद्देश के क्रम से इनकी व्याख्या करते हैं—

लोक व्यवहार [यहां] लोक [शब्द से अभिप्रेत] है।

स्थावर [वृक्षादि अचल] और जङ्गम [चल मनुष्यादि] रूप [जगत्] लोक [शब्द का मुख्यार्थ] है। उसका वृत्त अर्थात् व्यवहार यह [लोकवृत्त पद का] अर्थ है ॥ २ ॥

---

[1] तर्कभाषा पृ० ५।

विविक्तो देशः । १, ३, १६ ।

विविक्तो निर्जनः ॥ १६ ॥

रात्रियामस्तुरीयः कालः । १, ३, २० ।

रात्रेर्यामो रात्रियामः प्रहरस्तुरीयश्चतुर्थः काल इति । तद्वशाद् विषयोपरतं चित्तं प्रसन्नमवधत्ते ॥ २० ॥

वह विशेष देश और काल कौन-से हैं जिनमें एकाग्रता उप्पन्न होती है यह कहते हैं—

विविक्त [अर्थात् निर्जन] देश [एकाग्रता के लिए आवश्यक] है ।

विविक्त [का अर्थ] निर्जन है । [स्थान की निर्जनता, चित्त की एकाग्रता-सम्पादन के लिए अत्यन्त आवश्यक है] ॥ १६ ॥

रात्रि का चौथा पहर [ब्राह्ममुहूर्त का काल चित्त की एकाग्रता के लिए सबसे अधिक उपयुक्त] काल है ।

रात्रि का याम रात्रियाम [यह षष्ठी तत्पुरुष समास] है । [याम का अर्थ] प्रहर है । तुरीय [का अर्थ] चतुर्थ । [रात्रि का चतुर्थ पहर, अर्थात् ब्राह्ममुहूर्त का समय चित्त की एकाग्रता का उपयुक्त] काल है । उस [समय] के प्रभाव से विषयो से विरत और निर्मल चित्त एकाग्र हो जाता है । [वह समय काव्य निर्माण के लिए अत्यन्त उपयोगी है ।]

ब्राह्ममुहूर्त का समय काव्य रचना आदि बौद्धिक कार्यों के लिए विशेष रूप से उपयुक्त और अनुकूल है । उसमें नवीन भावों की स्फूर्ति होती है । इसलिए महाकवि कालिदास ने—

'पश्चिमाद् यामिनीयामात् प्रसादमिव चेतना ।'[1]

यह पद लिखा है । महाकवि माघ ने भी लिखा है कि—

[2]गहनमपररात्रप्राप्तबुद्धिप्रसादाः
कवय इव महीपाश्चिन्तयन्त्यर्थजातम् ॥२०॥

इस प्रकार इस अध्याय के इन प्रारम्भिक बीस सूत्रो में काव्य के साधनों

---

[1] रघुवंश १७, १ ।

[2] माघ ११, ६ ।

एवं काव्याङ्गान्युपदिश्य काव्यविशेषकथनार्थमाह—

काव्यं गद्यं पद्यञ्च । १, ३, २१ ।

गद्यस्य पूर्वनिर्देशो दुर्लक्ष्यविशेषत्वेन दुर्बन्धत्वात् । तथाहुः—
'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' ॥ २१ ॥

तच्च त्रिधा भिन्नमिति दर्शयितुमाह—

गद्यं वृत्तगन्धि चूर्णमुत्कलिकाप्रायञ्च । १, ३, २२ ।

तल्लक्षणान्याह—

पद्यभागवद् वृत्तगन्धि । १, ३, २३ ।

पद्यस्य भागाः पद्यभागाः । तद्वद् वृत्तगन्धि । यथा—
'पातालतालुतलवासिषु दानवेषु' इति ।

का निरूपण कर अब अगले १० सूत्रों मे काव्य के भेदो का निरूपण प्रारम्भ करते हैं ।

इस प्रकार काव्य के साधनो का कथन करके काव्य के भेदों के निरूपण के लिए कहते हैं—

काव्य गद्य और पद्य [रूप से दो प्रकार का] होता है ।

[काव्य के इन दोनो भेदों में से] गद्य का पहले निर्देश उसकी विशेषताओं के दुर्ज्ञेय और उसकी रचना के कठिन होने के कारण किया गया है । जैसा कि [लोकोक्ति में] कहा है—

गद्य को कवियो की [प्रतिभा की] कसौटी कहते हैं ॥ २१ ॥

वह [गद्य] भी तीन प्रकार का होता है यह दिखलाने के लिए कहते हैं—

गद्य (१) वृत्तगन्धि, (२) चूर्ण, और (३) उत्कलिकाप्राय [तीन प्रकार का] होता है ॥ २२ ॥

उन [तीनों गद्यभेदो] के लक्षण कहते हैं—

[जो गद्य पढने में] पद्यभाग से युक्त [या उसके समान प्रतीत] हो [उसमें वृत्त अर्थात् छन्द की गन्ध होने से] उसको 'वृत्तगन्धि' कहते हैं ।

['पद्यभागवत्' का समास कहते हैं] पद्य का भाग पद्यभाग [यह षष्ठी समास है] उससे युक्त [या उसके समान गद्य] 'वृत्तगन्धि' [कहलाता] है । जैसे—

पाताल के तालु के तले में रहने वाले दानवो में ।

अत्र हि 'वसन्ततिलका' वृत्तस्य भागः प्रत्यभिज्ञायते ॥ २३ ॥

अनाविद्धललितपद चूर्णम् १, ३, २४ ।

अनाविद्धान्यदीर्घसमासानि ललितान्यनुद्धतानि पदानि यस्मिंस्तदनाविद्धललितपदं चूर्णमिति । यथा—

अभ्यासो हि कर्मणां कौशलमावहति । न हि सकृन्निपातमात्रेणोदबिन्दुरपि ग्रावणि निम्नतामादधाति ॥ २४ ॥

इस [उदाहरण] में 'वसन्ततिलका' छन्द का भाग [एक चरण, पढ़ते ही] पहिचान लिया जाता है । [इसलिए इस गद्यांश में 'वसन्ततिलका' वृत्त की गन्ध होने से यह सारा गद्य भाग जिसका यह एकदेश उदाहरणार्थ लिया गया है, 'वृत्तगन्धि' गद्य कहलाता है] ।

'वसन्ततिलका' छन्द का लक्षण है 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ।' यही पंक्ति उसका उदाहरण भी है । इसके अनुसार वसन्ततिलका वृत्त में प्रत्येक चरण मे १४ अक्षर होते हैं । उनका विन्यास तगण, भगण, जगण, जगण, गुरु, गुरु इस प्रकार होता है । ऊपर के उदाहरण 'पातालतालुतलवासिषु दानवेषु' की रचना इसी क्रम से है । इसलिए वह पद्य के समान प्रतीत होता है । इसलिए वह जिस गद्यभाग का अंश है वह सब 'वृत्तगन्धि' गद्य कहलाता है ॥२३॥

दूसरे प्रकार की गद्यरचना को 'चूर्ण' कहते हैं । अगले सूत्र मे ग्रन्थकार उस 'चूर्ण' ग का लक्षण करते हैं ।

असमस्त [अनाविद्ध] और ललित पदो से युक्त [गद्यभाग] 'चूर्ण' कहलाता है ।

अनाविद्ध अर्थात् दीर्घसमासरहित और सुन्दर कोमल पद जिस में हो वह अनाविद्ध ललितपद वाला गद्य 'चूर्ण' कहलाता है । जैसे—

कर्मों के अभ्यास से ही कौशल प्राप्त होता है । केवल एक बार गिरने से तो जल की बूंद भी पत्थर में गड्ढा नहीं डालती ॥ २४ ॥

गद्य का तीसरा भेद 'उत्कलिकाप्राय' कहलाता है । उसका स्वरूप चूर्णात्मक गद्य से बिल्कुल विपरीत होता है । चूर्णात्मक गद्य दीर्घसमासरहित और कोमल पद युक्त होता है, तो 'उत्कलिकाप्राय' गद्य उसके विपरीत दीर्घसमास और उद्धत पदों से युक्त होता है । इसी आशय से ग्रन्थकार उसका लक्षण आगे करते हैं ।

विपरीतमुत्कलिकाप्रायम् । १, ३, २५ ।

विपरीतमाविद्धोद्धतपदमुत्कलिकाप्रायम् । यथा—

कुलिशशिखरखरनखरप्रचयप्रचण्डचपेटापाटितमत्तमातङ्गकुम्भ-स्थलगलन्मदच्छटाच्छुरितचारुकेसरभारभासुरमुखे केसरिणि ॥ २५ ॥

पद्यमनेकभेदम् । १, ३, २६ ।

पद्यं खल्वनेकेन समार्धसमविषमादिना भेदेन भिन्नं भवति ॥ २६ ॥

[चूर्णात्मक गद्य से] विपरीत 'उत्कलिकाप्राय' [गद्य] होता है ।

[चूर्णात्मक गद्य से] विपरीत अर्थात् दीर्घसमासयुक्त [आविद्ध] और उद्धत पदो से युक्त [गद्य] 'उत्कलिकाप्राय' [गद्य नाम से कहा जाता] है । जैसे—

वज्रकोटि के समान तीक्ष्ण नखो के कारण भयङ्कर थप्पड से विदीर्ण मत्त हाथी के कुम्भस्थल से गिरती हुए मदधारा से भीगे हुए अयालो के समूह से देदीप्यमान मुख वाले सिंह के होने पर ॥ २५ ॥

गद्यकाव्य का निरूपण कर चुकने के बाद पद्य का निरूपण प्रारम्भ करते हैं। पद्य अनेक प्रकार के होते हैं ।

सम, अर्धसम और विषम आदि भेद से पद्य अनेक प्रकार के होते हैं ॥ २६ ॥

'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' के टीकाकार श्री 'गोपेन्द्र त्रिपुरहरभूपाल' ने सम, अर्धसम, और विपम वृत्तों के लक्षण 'भामह' के मतानुसार इस प्रकार उद्धृत किए हैं—

सममर्धसमं वृत्तं विपमञ्च त्रिधा मतम् ।
अघ्रयो यस्य चत्वारस्तुल्यलक्षणलक्षिताः ।
तच्छन्दःशास्त्रतत्त्वज्ञाः समवृत्त प्रचक्षते ॥१॥
प्रथमाघ्रिसमो यस्य तृतीयश्चरणो भवेत् ।
द्वितीयस्तुर्यवद् वृत्त तदर्धसममुच्यते ॥२॥
यस्य पादचतुष्केऽपि लक्ष्म भिन्न परस्परम् ।
तदाहुर्विषम वृत्त छन्दःशास्त्रविशारदाः ॥३॥

ये श्लोक यद्यपि 'भामह' के नाम से टीका मे उद्धृत किए गए हैं परन्तु 'भामह' के 'काव्यालङ्कार' में उनका कही पता नही चलता है । इसी प्रकार ऊपर १, ३, १५ वें सूत्र की वृत्ति मे 'आधानोद्धरणे तावत् यावद्दोलायते मनः'

अर्थतस्तदवगम । २, १, २ ।

गुणस्वरूपनिरूपणात् तेषां दोषाणां अर्थादवगमोऽर्थसिद्धिः ॥ २ ॥

किमर्थन्ते पृथक् प्रपञ्च्यन्त इत्याह—

सौकर्याय प्रपञ्च । १, १, ३ ।

सौकर्यार्थं प्रपञ्चो विस्तरो दोषाणाम् । उद्दिष्टा लक्षिता हि दोषाः सुज्ञाना भवन्ति ॥ ३ ॥

की आवश्यकता नहीं है । फिर दोष निरूपण के लिए इस 'दोषदर्शन' अधिकरण की रचना आपने क्यो की है ? ग्रन्थकार इस प्रश्न का उत्तर यह देते हैं कि यह ठीक है कि गुणो के परिज्ञान से भी उनके विरोधी दोषों का ज्ञान हो सकता है । परन्तु यदि उनका साक्षात् लक्षण कर दिया जाय तो पाठक को अधिक सरलता होगी इसलिए पाठकों के सौकर्य के लिए यहा दोषो का प्रपञ्च अथवा निरूपण किया है । इसी पूर्वपक्ष तथा उत्तर पक्ष को अगले दो सूत्रो में दिखलाते हैं ।

[प्रश्न] अर्थापत्ति से उन [गुणविरोधी दोषो] का ज्ञान हो सकता है ।

गुणो के स्वरूप के निरूपण से उन दोषों का अर्थापत्ति से ज्ञान या अर्थतः सिद्धि हो सकती है ॥ २ ॥

[फिर] उनका पृथक् निरूपण किस लिए कर रहे है, यह कहते है—

[उत्तर—पाठको की] सरलता के लिए [दोषों का] प्रपञ्च [विस्तार] किया है ।

सुगमता के लिए प्रपञ्च अर्थात् दोषो का विस्तृत विवेचन [किया] है । [दोषो के] नाम गिना देने [उद्देश] और लक्षण कर देने से दोष सरलता से समझ में आते है ।

यहा वृत्तिग्रन्थ मे 'उद्देश' तथा 'लक्षण' शब्दों का प्रयोग किया गया है । 'उद्देश' का अर्थ 'नाममात्र का कथन करना' अर्थात् अभिमत पदार्थों का केवल नाम गिना देना है । 'नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तनमुद्देशः' । और 'लक्षणन्तु असाधारणधर्मवचनम्' । असाधारण धर्म का कथन करना लक्षण कहलाता है । जैसे 'गन्धवती पृथिवी' अथवा 'सास्नादिमत्त्व गोत्वम्' यह पृथिवी तथा गौ के लक्षण हैं । अभिमत पदार्थों के नाम गिनाकर उनके असाधारण धर्मों को बता देने अर्थात् लक्षण कर देने से पदार्थ भली प्रकार समझ मे आ जाते हैं । इसीलिए

पददोषान् दर्शयितुमाह—

दुष्टं पदमसाधु कष्टं ग्राम्यमप्रतीतमनर्थकञ्च ।.२, १, ४ ।

उद्देश तथा लक्षण करने की पद्धति सर्वत्र पाई जाती है। न्याय शास्त्र में त्रिविध शास्त्र प्रवृत्ति का वर्णन आया है। अर्थात् उसमे 'उद्देश' और 'लक्षण' इन दो के साथ 'परीक्षा' को और बढ़ा दिया गया है। इन तीनो रूपो मे न्यायशास्त्र की प्रवृत्ति होती है। परन्तु वैशेषिक आदि दर्शनो में 'परीक्षा' को छोड़ कर 'उद्देश' तथा 'लक्षण' रूप द्विविध शास्त्र प्रवृत्ति का ही वर्णन किया गया है। यहा वामन ने भी 'उद्देश' तथा 'लक्षण' दो का ही कथन किया है।

इस अधिकरण मे स्थूल रूप से ही प्रतीत होने वाले काव्य के असाधुत्वापादक स्थूल दोषों का ही निरूपण किया गया हैं। आगे ग्रन्थकार लिखेगे कि 'ये त्वन्ये शब्दार्थदोषाः सूक्ष्मास्ते गुणविवेचने वक्ष्यन्ते'। इस पक्ति से यह अभिप्राय निकलता है कि यहा निरूपण किए जाने वाले दोष, स्थूल दोष ही हैं, सूक्ष्म दोष नही। गुण विपर्यय स्वरूप सूक्ष्म दोषो का निरूपण गुणनिरूपण के प्रसङ्ग में किया जायगा ॥३॥

इस प्रकार दोप का सामान्य लक्षण और उसके निरूपण की उपयोगिता का प्रतिपादन करके अब दोपो का निरूपण प्रारम्भ करते हैं।

पद दोषों को दिखलाने के लिए कहते हैं—

१ असाधुपद, २ कष्टपद, ३ ग्राम्यपद, ४ अप्रतीतपद, और ५ अनर्थक पद [यह पांच प्रकार के पददोष अथवा] दुष्ट पद होते हैं ॥४॥

शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं। उनमे से शब्द, पद और वाक्य रूप, तथा अर्थ, पदार्थ, वाक्यार्थ रूप से दो-दो प्रकार के हैं। पद और पदार्थ की प्रतीति हो जाने के बाद ही वाक्य और वाक्यार्थ की प्रतीति हो सकती है। इसलिए वाक्य या वाक्यार्थ के दोषो के निरूपण के पूर्व पद और पदार्थ के दोषों का निरूपण किया है। उनमें भी पद से ही पदार्थ की प्रतीति हो सकती है इसलिए पदार्थ दोषो की अपेक्षा पद-दोषो का निरूपण पहिले किया है।

यह सूत्र पद दोषो का 'उद्देश' सूत्र है। इसमे पद दोषों के नामों का सङ्कीर्तन मात्र किया गया है। उनके लक्षण आदि आगे किए जायेगे। सूत्र मे आया 'पद' शब्द असाधु, कष्ट, ग्राम्य, अप्रतीत और अनर्थक इन पाचों के साथ जोड़ कर असाधुपद, कष्टपद, ग्राम्यपद, अप्रतीतपद, और अनर्थकपद यह पाच प्रकार के पददोप समझने चाहिए। यहा सूत्रकार ने केवल पाच प्रकार के ही

क्रमेण व्याख्यातुमाह—

शब्दस्मृतिविरुद्धमसाधु । २, १, ५ ।

शब्दस्मृत्या व्याकरणेन विरुद्धं पदमसाधु । यथा 'अन्यकारक-वैयर्थ्यम्' इति । अत्र हि,

[1]'अषष्ठ्यतृतीयास्थस्याऽन्यस्य दुक् आशीराशास्थास्थितोत्सुकोति-कारकरागच्छेषु' इति दुका भवितव्यम् इति ॥ ५ ॥

पददोषों का निरूपण किया है परन्तु वामन के बाद दोषों की सख्या मे वृद्धि होकर अन्त मे साहित्यदर्पण के युग में पहुच कर पाच की जगह १८ प्रकार के पद दोष हो गए है । साहित्यदर्पणकार ने उनको इस प्रकार गिनाया है—

[2]दुःश्रवत्रिविधाश्लीलानुचिनार्थाप्रयुक्तता । ६
ग्राम्याप्रतीतिसन्दिग्धनेयार्थनिहितार्थता ॥ ५
अवाचकत्वं क्लिष्टत्वं विरुद्धमतिकारिता । ३
अविमृष्टविधेयाशभावश्च पदवाक्ययोः ॥ १
दोषाः केचिद् भवन्त्येषु पदाशेऽपि पदे परे । –
निरर्थकासमर्थत्वे च्युतसस्कारता तथा ॥ ३
१८

[उद्देश के] क्रम से व्याख्या करने के लिए कहते हैं—

व्याकरणशास्त्र के विपरीत [शब्द का प्रयोग] 'असाधु' [पद] कहलाता है ।

शब्दस्मृति अर्थात् व्याकरणशास्त्र से विरुद्ध पद 'असाधु' [पद] कहलाता है । जैसे, अन्यकारक व्यर्थ है । यहां [इस प्रयोग में] अषष्ठ्यतृतीयास्थस्यान्यस्य दुक् आशी-आशा-आस्था-स्थित-उत्सुक-कृति-कारक-राग-च्छेषु इस सूत्र से [अन्य शब्द के अन्त्य अच् से परे] दुक् [का आगम होकर 'अन्यत्कारकवैयर्थ्यम्' ऐसा प्रयोग] होना चाहिए ।

यहा दुक् का आगम न करके 'अन्यकारक' पद का प्रयोग किया गया है । उक्त पाणिनि सूत्र का आशय यह है कि आशी आदि पदों के परे रहते अन्य शब्द को दुक् का आगम हो । इस प्रकार दुगागम होकर अन्यदाशी, अन्यदाशा, अन्यदास्था, अन्यदास्थितः, अन्यदुत्सुकः, अन्यदूतिः, अन्यद्रागः, और छ प्रत्यय का अन्यदीयः आदि प्रयोग बनते हैं । 'अषष्ठी' आदि देने से षष्ठी

---

[1] अष्टाध्यायी ६, ३, ६६ । [2] साहित्यदर्पण ७, २-४ ।

श्रुतिविरस कष्टम् । २, १, ६ ।

श्रुतिविरसं श्रुतिकटु पदं कष्टम् । तद्धि रचनागुम्फितमप्युद्वेजयति । यथा—

अचूचुरच्चण्डि कपोलयोस्ते
कान्तिद्रवं द्राग् विशदः शशाङ्कः ॥६॥

तथा तृतीया में अन्यस्य अन्येन वाशीः अन्याशीः प्रयोग ही होगा । यह कहा जा सकता है कि यहा 'अन्यकारक' पद का प्रयोग करने वाले ने भी 'अन्येषा कारकाणा वैयर्थ्य अन्यकारक वैयर्थ्यम्' इस प्रकार का षष्ठी तत्पुरुष समास और षष्ठी विभक्ति मान कर ही यहा 'अन्यकारकवैयर्थ्यम्' इस प्रकार का प्रयोग किया है । उसमे असाधुत्व का अवकाश कहा है ? इसका उत्तर यह है कि फिर भी उनका यह प्रयोग ठीक नही है । क्योकि इस पाणिनीय सूत्र के महाभाष्य में भाष्यकार ने सूत्र को दो भागों में विभक्त करके इस प्रकार उसका न्यास किया है । १. अन्यस्य दुक् छकारकयोः, २. अषष्ठ्यतृतीयास्थस्याशीराशास्थास्थितोत्सुकोतिरागेषु । भाष्यकार के इस प्रकार के न्यास करने का आशय यह हुआ कि 'छ' प्रत्यय और 'कारक' के परे रहते 'अन्य' शब्द को सब विभक्तियो मे नित्य दुक् का आगम हो और आशी, आशा आदि शब्दो के परे रहते षष्ठी तथा तृतीया से भिन्न विभक्तियो के 'अन्य' शब्द को ही दुक् का आगम हो । अर्थात् आशी, आशा आदि शब्दो के परे रहते षष्ठी और तृतीया के अन्य शब्द को दुक् का आगम न होकर अन्याशी, अन्याशा आदि प्रयोग बन जावेगे । परन्तु 'छ' प्रत्यय तथा 'कारक' शब्द के परे रहते दुक् का आगम अवश्य होगा इसलिए वहा 'अन्यकारक' प्रयोग न होकर 'अन्यत्कारक' ही बनेगा । 'अन्यकारक' पद का प्रयोग असाधु है । नवीन आचार्यों ने इस दोष को च्युतसस्कार नाम से कहा है ॥५॥

सुनने में विरस अर्थात् कर्णकटु पद 'कष्टपद' [दोष] कहलाता है । कानों को अरुचिकर कर्णकटु पद 'कष्टपद' है । [नवीन आचार्यो ने इसे दुःश्रव नाम से 'व्यवहृत' किया है ।] वह तो रचना में [लेख रूप में] निबद्ध होकर भी अरुचिकर होता है । जैसे—

हे चण्डि [क्रोधनशीले तुम्हारे नाराज होने पर] जान पड़ता है कि तुम्हारे गालो के सौन्दर्य रस को एक दम चमकने वाले चन्द्रमा ने चुरा लिया है [इसीलिए वह तुरन्त चमकने लगा है] ।

[यहां द्राक् यह पद कष्ट श्रुतिकटु या दुःश्रव है] ॥६॥

लोकप्रयुक्तमात्र ग्राम्यम् । २, १, ७ ।

लोक एव यत्प्रयुक्तं पदं न शास्त्रे तद् ग्राम्यम् । यथा—

'कष्टं कथं रोदिति फूत्कृतेयम् ।'

अन्यदपि तल्लगल्लादिकं द्रष्टव्यम् ॥७॥

शास्त्रमात्रप्रयुक्तमप्रतीतम् । २, १, ८ ।

शास्त्र एव प्रयुक्तं यन्न लोके तदप्रतीतम् । यथा—

'किं भाषितेन बहुना रूपस्कन्धस्य सन्ति मे न गुणाः ।
गुणनान्तरीयकञ्च प्रेमेति न तेऽस्त्युपालम्भः' ॥
अत्र रूपस्कन्धनान्तरीयकपदे न लोके इत्यप्रतीतम् ॥ ८ ॥

जो केवल लोक में ही प्रयुक्त हो [शास्त्र में नहीं] वह ग्राम्य पद कहलाता है ।

जो पद केवल लोक में ही प्रयुक्त हो शास्त्र में नहीं वह ग्राम्य [पद] कहलाता है । जैसे—

हाय यह [चूल्हा आदि] फूकने वाली [धुंए आदि के कारण] कैसे रो रही है । [यहाँ फूत्कृता शब्द ग्राम्य है । उसका काव्यो में सत्कवियो द्वारा प्रयोग नहीं किया जाता है] ।

इसी प्रकार तल्ल गल्ल आदि शब्द भी [ग्राम्य पद] समझने चाहिएं [जैसे—ताम्बूलभृतगल्लोऽयं तल्लं जल्पति मानवः । पान से भरे हुए गालो वाला यह आदमी अच्छी बकवाद कर रहा है । इस उदाहरण में प्रयुक्त 'गल्ल' और 'तल्ल' शब्द भी ग्राम्यपद ही समझने चाहिएं] ॥७॥

केवल शास्त्र में प्रयुक्त होने वाला [लोक में प्रयुक्त न होने वाला] पद 'अप्रतीत पद' [दोषग्रस्त] कहलाता है ।

जो केवल शास्त्र में ही प्रयुक्त होता है लोक में नहीं वह [पद] 'अप्रतीत पद' होता है । जैसे—

बहुत कहने से क्या लाभ, सीधी बात यह है कि मेरे भीतर शरीर [रूपस्कन्ध] के [सौन्दर्य आदि] गुण नही है और प्रेम [उन शारीरिक सौन्दर्य आदि] गुणो का [नान्तरीयक] अविनाभावी है इसलिए [तुम मुझे प्रेम क्यो नहीं करते यह] तुम्हे उलाहना [तो] दिया ही नहीं जा सकता है ।

यहा 'रूपस्कन्ध' [पद मुख्य रूप से बौद्ध दर्शन में रूप, वेदना, विज्ञान,

पूरणार्थमनर्थकम् । २, १, ९ ।

पूरणमात्रप्रयोजनमव्ययपदमनर्थकम् । दण्डापूपन्यायेन पदमन्यदप्यनर्थकमेव ।

संज्ञा और संस्कार इन 'पञ्च स्कन्धो' में से प्रथम 'स्कन्ध' के लिए प्रयुक्त होता है और उससे विषय तथा इन्द्रिय का ग्रहण होता है] और नान्तरीयक [पद मुख्य रूप से न्यायादि दर्शन में अविनाभाव या 'व्याप्ति' के अर्थ में प्रयुक्त होता है] यह दोनो पद लोक में प्रयुक्त नहीं होते इसलिए 'अप्रतीत पद' [दोष] कहलाते है । [नवीन आचार्यो ने भी इस दोष को 'अप्रतीतत्व' नाम से पद दोष कहा है] ॥८॥

[केवल पाद की] पूर्ति के लिए प्रयुक्त पद अनर्थक होते है ।

[श्लोक में] केवल [पाद] पूर्ति मात्र के लिए प्रयुक्त होने वाले [च आदि] अव्यय पद अनर्थक [पद कहलाते] है । 'दण्डापूपिका न्याय' से अन्य पद भी अनर्थक होते है ।

श्लोक रचना करते समय कभी-कभी वर्णों की गणना मे एक दो अक्षरो की कमी पड़ती है और उसके लिए कोई अधिक उपयुक्त शब्द कवि को नही मिलता है उस समय कवि च, तु, हि, खलु, वै, आदि अव्ययो का प्रयोग करके उसकी पूर्ति कर देता है । उनसे छन्द के पाद की पूर्ति तो हो जाती है, परन्तु उस का वहा कोई अर्थ नहीं होता है । इसलिए इस प्रकार के पदो का प्रयोग 'अनर्थक पद' कहलाता है । जब इन अव्यय पदों को भी अनर्थक, या दोषयुक्त पद कहा जा सकता है तब अन्य पद यदि कहीं निष्प्रयोजन प्रयुक्त किए जाय तो 'दण्डापूपिका' न्याय से वह अन्य पद भी अनर्थक ही होगे ।

'दण्डापूपिका-न्याय' का अभिप्राय यह है कि जैसे किसी ने अपूप अर्थात् पुआ या गुलगुला कपडे में रख कर अपने डडे में बाध कर रख दिए थे । उसके किसी दूसरे साथी ने उसको रखते देख लिया । जब वह कही बाहर गया तो उस दूसरे साथी ने पुए तो लेकर स्वय खा लिए और डंडा उठाकर कहीं इधर-उधर फेंक दिया । जब पहिला पुरुष लौट कर आया तो उसने अपना डडा जहा रखा था वहा न देख कर अपने साथी से पूछा कि डडा कहा गया ? तो उसने उत्तर दिया कि मालूम नही, जान पड़ता है चूहे डडा उठा ले गए । पहिले आदमी को भूख लग रही थी । उसे उस समय डंडे की इतनी आवश्यकता न थी जितनी पुओं की । इसलिए उसने, अच्छा फिर पुए कहा गए ? इस प्रकार का

यथा—

उदितस्तु हास्तिकविनीलमयं,
तिमिरं निपीय किरणैः सविता ॥

अत्र 'तु' शब्दस्य पादपूरणार्थमेव प्रयोग : ।' न वाक्यालङ्काराथम् । वाक्यालङ्कारप्रयोजनं तु नानर्थकम् । अपवादार्थमिदम् । यथा—

न खल्विह गतागता नयनगोचरं मे गता ॥६॥

दूसरा प्रश्न किया । परन्तु उसके साथी ने इस दूसरे प्रश्न का उत्तर दिया कि जब डंडा ही चूहे ले गए तो क्या पुए उन्होंने छोड़ दिए होंगे । पुए भी चूहे ही ले गए यह तो स्वय ही सिद्ध हो जाता है, कहने की आवश्यकता नहीं होती । इस प्रकार जहा एक बात के कहने से दूसरा परिणाम तो स्वयं ही निकल आता है उसको 'दण्डापूपिका-न्याय' कहा जाता है । दार्शनिक क्षेत्र में इसी को अर्थापत्ति प्रमाण भी कहा जाता है । इसका नाम है 'दण्डापप-न्याय' । प्रकृत में, 'च' आदि निपात, जो किसी अर्थ के वाचक नहीं होते केवल द्योतक होते हैं, वह ही केवल पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त होने पर जब अनर्थक कहलाने लगते हैं तब वाचक पद यदि निष्प्रयोजन कहीं प्रयुक्त हो जावें तो वे भी अनर्थक कहलाने लगेंगे यह तो 'दण्डापूपिका-न्याय' से स्वतःसिद्ध है ही । इसी बात को ग्रन्थकार ने 'दण्डापूपन्यायेन पदमन्यदपि अनर्थकमेव ।' लिख कर प्रकट किया है । आगे अनर्थक पद का उदाहरण देते हैं ।

जैसे—

हाथियो के समूह की नीलिमा से निर्मित [जैसे] अन्धकार को [अपनी] किरणो द्वारा पान [नाश] करके सूर्यदेव उदय हुए ।

यहां [मूल श्लोक में] 'तु' शब्द का प्रयोग पादपूरणार्थ ही किया गया है, वाक्यालङ्कार के लिए नही । [इसलिए वह अनर्थक है] । वाक्यालङ्कार के लिए किया गया [तु आदि का प्रयोग] तो अनर्थक नहीं होता ।

अर्थात् 'तु', 'खलु' आदि का प्रयोग कहीं केवल पादपूर्ति मात्र के लिए किया जाता है और कहीं वाक्यालङ्कार के लिए भी उनका प्रयोग किया जाता है । इनमे से जहा केवल पादपूर्ति के लिए 'तु' आदि का प्रयोग किया जाता है वहा 'अनर्थकपद' दोष होता है । और जहा वाक्यालङ्कार मे उनका प्रयोग होता है वहा दोष नहीं होता है । यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है ।

यह [पूर्वोक्त नियम के] अपवाद के लिए कहा है । जैसे—

[वह] यहां आती जाती मुझे दिखाई नहीं दी ।

इति । तथा, हि 'खलु' हन्तेति ।

सम्प्रति पदार्थदोषानाह—

अन्यार्थनेयगूढार्थाश्लीलक्लिष्टानि च । २, १, १० ।

दुष्टं पदमित्यनुवर्तते, अर्थश्च, वचनविपरिणामः । अन्यार्थादीनि पदानि दुष्टानीति सूत्रार्थः ॥१०॥

यह [यहां खलु पद वाक्यालङ्कार के लिए प्रयुक्त हुआ है पादपूर्ति के लिए नहीं । इस लिए यह अनर्थक पद नहीं है ।] इसी प्रकार, हि, खलु, हन्त इत्यादि [पद वाक्यालङ्कार के लिए प्रयुक्त होने पर अनर्थक नहीं होते] हैं ॥ ६ ॥

इस प्रकार वामन ने यहा पाच प्रकार के पद-दोषों का निरूपण किया है परन्तु साहित्यदर्पण मे १८ प्रकार के पद दोष माने हैं । उनमें अश्लील दोष का उल्लेख वामन ने पददोषों मे न करके केवल पदार्थ दोषों में किया है परन्तु नवीन आचार्यों ने पद दोष तथा अर्थ दोष दोनों में उसकी गणना की है ।

पदार्थ दोषो का निरूपण—

इसी प्रकार वामन ने अन्यार्थ, नेयार्थ, गूढ़ार्थ, अश्लील और क्लिष्टत्व रूप पाच प्रकार के पदार्थ दोष माने हैं। परन्तु साहित्यदर्पण के समय तक अर्थ-दोषों की सख्या बढ़कर पाच के स्थान पर २३ तक पहुच गई है । साहित्य दर्पणकार ने तेईस प्रकार के अर्थदोष इस प्रकार गिनाए हैं—

[1]अपुष्ट-दुष्क्रम-ग्राम्य-व्याहता-ऽश्लील-कष्टता ।	६
अनवीकृत-निर्हेतु-प्रकाशितविरुद्धता ॥	३
सन्दिग्ध-पुनरुक्तत्वे ख्याति-विद्या-विरुद्धते ।	४
साकाङ्क्षता-सहचरभिन्नता-ऽस्थानयुक्तता ॥	३
अविशेषे विशेषश्चा-ऽनियमे नियमस्तथा ।	२
तयोर्विपर्ययौ विध्यनुवादायुक्तते तथा ॥	४
निर्मुक्तपुनरुक्तत्वमर्थदोषाः प्रकीर्तिताः ॥	१
	२३

[ग्रन्थकार वामन] अब पदार्थ दोषों को कहते हैं—

१. अन्यार्थ, २. नेयार्थ, ३. गूढ़ार्थ, ४. अश्लील, और ५. क्लिष्ट [यह पांच प्रकार के पदार्थ दोष है ।]

दुष्ट पदं इस [शब्द अथवा दुष्टं पदं शब्दों के अर्थ] की

एषां क्रमेण लक्षणान्याह—

रूढिच्युतमन्यार्थम् । २, १, ११ ।

रूढ़िच्युतं रूढ़िमनपेक्ष्य यौगिकार्थमात्रोपादानात् । अन्यार्थं पदम् स्थूलत्वात् सामान्येन घटशब्दः पटशब्दार्थ इत्यादिकमन्यार्थं नोक्तम् । यथा—

ते दुःखमुच्चावचमावहन्ति,
ये प्रस्मरन्ति प्रियसङ्गभानाम् ।

अत्र 'आवहतिः' करोत्यर्थो धारणार्थे प्रयुक्तः । प्रस्मरतिर्विस्मरणार्थः प्रकृष्टस्मरण इति ॥११॥

की अनुवृत्ति [पूर्वसूत्रो से] आती है । और अर्थ [इस शब्द की] भी [अनुवृत्ति आती है । और दुष्ट पदं में जो एक वचन है उसका] वचन-विपरिणाम [परिवर्तन करके बहुवचन कर लेना चाहिए । तब इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार] होगा । अन्य अर्थादि [के बोधक] पद दुष्ट होते है । यह सूत्र का अर्थ हुआ ॥ १० ॥

[इस प्रकार इस सूत्र में पदार्थ दोषो का 'उद्देश' अर्थात् नाममात्र से कथन करके आगे] क्रम से इनके लक्षण कहते है—

[योगरूढ़ अथवा रूढ़ शब्द जब] रूढ़ि से च्युत [अर्थात् रूढ़ अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता है तो वह] अन्यार्थ होता है ।

रूढ़ि से च्युत अर्थात् रूढ़ि की पर्वाह किए बिना यौगिकार्थ मात्र का उपादान करने से [रूढ़ अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुआ पद] अन्यार्थ पद कहलाता है । साधारणतः घट शब्द पट शब्द के अर्थ में प्रयुक्त होने पर अन्यार्थ पद होता है [यह अन्यार्थ का लक्षण कहा जा सकता है । परन्तु] यह मोटी [स्थूलबुद्धि ग्राह्य] बात होने से नहीं कहा । [अपितु 'रूढिच्युतमन्यार्थम्' इस प्रकार अन्यार्थ का तनिक सूक्ष्म लक्षण किया है । आगे उसका उदाहरण देते है] जैसे—

जो प्रियजनो के सङ्गो को विशेष रूप से स्मरण करते है वह नाना प्रकार के दुःखो को उठाते है ।

यहां करने [कृञ् धातु] के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला आङ्-पूर्वक वह धातु का [आवहति] प्रयोग धारण के अर्थ में किया गया है । और

अप्रसिद्धार्थप्रयुक्त गूढार्थम् । २, १, १३ ।

यस्य पदस्य लोकेऽर्थः प्रसिद्धश्चाप्रसिद्धश्च तदप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तं गूढार्थम् । यथा—

सहस्रगोरिवानीकं दुस्सहं भवतः परैः ।

इति । सहस्रं गावोऽक्षीणि यस्य स सहस्रगुरिन्द्रः । तस्येवेति, गोशब्दस्याक्ष्णिवाचित्वं कविष्वप्रसिद्धमिति ॥ १३ ॥

असभ्यार्थान्तरमसभ्यस्मृतिहेतुश्चाश्लीलम् । १, १, १४ ।

अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त पद 'गूढ़ार्थ' [दोष से युक्त] होता है ।

जिस [अनेकार्थक] पद का [एक] अर्थ लोक में प्रसिद्ध और [दूसरा अर्थ लोक में] अप्रसिद्ध होता है उसका अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग [होने पर वह पद] गूढ़ार्थ होता है । जैसे—

सहस्र नेत्र वाले इन्द्र के समान आपकी सेना शत्रुओं के लिए असह्य है । यह । [इसमें गो शब्द का इन्द्रिय अर्थ मान कर] सहस्र गौएं अर्थात् चक्षु रूप इन्द्रियां जिसके हैं वह 'सहस्रगु' इन्द्र हुआ । उसके समान [आप] यह [कवि का विवक्षित अर्थ है] गो शब्द का नेत्रवाचकत्व कवियो में अप्रसिद्ध है ।

गौर्नाके वृषभे चन्द्रे वाग्-भू-दिग्-धेनुषु स्त्रियाम् ।
द्वयोस्तु रश्मि-दृग्-बाणस्वर्ग वज्रा-ऽम्बुलोमसु ॥

इस कोश के अनुसार 'गो' शब्द का नेत्र अर्थ भी हो सकता है परन्तु गो शब्द को सुकविगण प्राय. नेत्र अर्थ में प्रयुक्त नहीं करते हैं । इसलिए प्रकृत उदाहरण मे प्रयोग 'गूढ़ार्थ' दोष कहलाता है । इसी प्रकार—

तीर्थान्तरेषु स्नानेन समुपार्जितसत्पथः ।
सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति सम्प्रति सादरम् ॥

इत्यादि स्थलो मे 'हन्ति' पद का गमनार्थ में प्रयोग भी 'गूढ़ार्थ' दोष का उदाहरण है । 'हन हिंसागत्योः' इस धातु पाठ के अनुसार 'हन्' धातु के हिंसा और गति दोनों अर्थ हैं । परन्तु कविगण 'हन्' का गमनार्थ में प्रयोग नहीं करते हैं । इसलिए 'सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति' यहा गमनार्थ मे 'हन्ति' का प्रयोग 'गूढ़ार्थ' दोष कहा जाता है । नवीन आचार्य इसी 'गूढ़ार्थ' दोष को 'अप्रयुक्तत्व' दोष कहते हैं ॥ १३ ॥

[आगे अश्लीलार्थ रूप पदार्थ दोष का निरूपण करते हैं]—

जिसका दूसरा अर्थ असभ्य [असभ्यता सूचक] हो और जिससे असभ्यार्थ की स्मृति होती हो उसको 'अश्लील' कहते हैं ।

यस्य पदस्यानेकार्थस्यैकोऽर्थोऽसभ्यः स्यात् तदसभ्यार्थान्तरम् । यथा वर्चः इति पद तेजसि विष्ठायाञ्च । यत्तु पदं सभ्यार्थवाचकमपि एकदेशद्वारेणासभ्यार्थं स्मारयति तदसभ्यस्मृतिहेतुः यथा 'कृकाटिका इति ॥ १४ ॥

न गुप्तलक्षितसंवृतानि । २, १, १५ ।

अपवादार्थमिदम् । गुप्त लक्षितं संवृत्तञ्च नाश्लीलम् ॥ १५ ॥

एषां लक्षणान्याह—

अप्रसिद्धासभ्य गुप्तम् । २, १, १६ ।

जिस अनेकार्थक पद का एक अर्थ असभ्य हो, वह [इस सूत्र में] असभ्यार्थान्तर [पद से कहा गया] है । जैसे 'वर्चस्' पद तेज तथा विष्ठा [दोनो] अर्थों में [प्रयुक्त होता है इनमें से विष्ठा रूप दूसरा अर्थ जुगुप्सा व्यञ्जक अश्लील है] इसलिए यह पद 'असभ्यार्थान्तर' पद होने से अश्लील है] । और जो पद [केवल] सभ्यार्थ का वाचक होने पर भी एकदेश से असभ्यार्थ का स्मरण कराने वाला हो, वह [भी] असभ्य अर्थ की स्मृति का हेतु होने से अश्लील है । जैसे 'कृकाटिका' पद । ['कृकाटिका' पद कर्ण के नीचे के भाग कनपटी का वाचक है । कर्णापरभागवाचकमपि कृकाटिका पदं] परन्तु उसके एकदेश 'काटि' से मुर्दे को लेजाने वाली 'काठी' का स्मरण हो आता है इसलिए वह 'अमङ्गल व्यञ्जक अश्लीलता' का उदाहरण है । 'प्रेतयान खटिः काटी' इस वैजयन्ती कोश के अनुसार 'काटी' शब्द 'प्रेतयान' अर्थात् मुर्दा ले जाने वाली 'काठी' का बोधक है । एकदेश से उसका स्मारक होने से 'कृकाटिका' पद भी 'अमङ्गल व्यञ्जक अश्लील' कहलाता है । ॥१४॥

[यदि असभ्यार्थ] गुप्त [अप्रसिद्ध] अथवा लक्षित [लक्षणावोध्य] अथवा [लोकव्यवहार से] दब गया [संवृत हो गया] हो तो वह अश्लील नहीं होता ॥

यह [सूत्र] अपवाद के लिए है । गुप्त [अप्रसिद्ध], लक्षित [लक्षणा-गम्य] अथवा [लोकव्यवहार से] संवृत [दब जाने वाले असभ्यार्थ का बोधक पद] अश्लील नहीं है ॥ १५ ॥

इन [गुप्त, लक्षित तथा संवृत] के लक्षण कहते हैं—

[जिसका] असभ्य अर्थ अप्रसिद्ध हो वह गुप्त [असभ्यार्थ] होता है ।

अप्रसिद्धासभ्यार्थान्तरं पदमप्रसिद्धासभ्यं तद् गुप्तम् । यथा 'सम्बाधः' इति पदम् । तद्धि सङ्कटार्थे प्रसिद्धं, न गुह्यार्थमिति ॥ १६ ॥

लाक्षणिकासभ्य लक्षितम् । २, १, १७ ।

तदेवासभ्यार्थान्तरं लाक्षणिकेनासभ्येनार्थेनान्वितं पदं लक्षितम् । यथा 'जन्मभूमिः' इति । तद्धि लक्षणया गुह्यार्थं न स्वशक्त्येति ॥ १७ ॥

लोकसवीत सवृतम् । २, १, १८ ।

लोकेन संवीत लोकसंवीतम् । यत् तत् संवृतम् । यथा 'सुभगा', 'भगिनी', 'उपस्थानम्', 'अभिप्रेतम्', 'कुमारी', 'दोहदम्' इति । अत्र हि श्लोक :—

[जिसका] दूसरा [अर्थात्] असभ्य अर्थ [हो पर] प्रसिद्ध न हो वह अप्रसिद्धासभ्य पद 'गुप्त' [कहलाता] है । जैसे 'सम्बाधः' यह पद । ['वेशोऽपि गन्धः सम्बाधो गुह्यसङ्कटयोर्द्वयोः' इस कोश के अनुसार 'सम्बाध' पद गुह्येन्द्रिय उपस्थ तथा सङ्कट दोनो का वाचक है । परन्तु इनमें से] वह [सम्बाध पद] सङ्कट अर्थ में प्रसिद्ध है गुह्य [उपस्थेन्द्रिय] अर्थ में [प्रसिद्ध] नहीं । [इसलिए अश्लील अर्थ के गुप्त अर्थात् अप्रसिद्ध होने से इस पद का प्रयोग अश्लीलतायुक्त नहीं है ।] ॥ १६ ॥

[असभ्य अर्थान्तर वाला पद] असभ्य अर्थ के लाक्षणिक [लक्षणागम्य] होने पर लक्षित [असभ्य अर्थ] होता है [और वह अश्लील नहीं कहलाता है] ।

वही असभ्यार्थान्तर वाला पद, यदि लाक्षणिक असभ्यार्थ से युक्त हो तो लक्षित [लक्षितासभ्यार्थ] कहलाता है [और वह अश्लील नहीं होता है] । जैसे 'जन्मभूमि' यह [पद] । वह लक्षणा से गुह्य [स्त्री की योनि या उपस्थ] का बोधक है अपनी [अभिधा] शक्ति से नही । [इसलिए वह अश्लील नहीं है] ॥ १७ ॥

लोक [व्यवहार] से [असभ्यार्थ] दबा हुआ [होने पर] सवृत [असभ्यार्थ कहलाता] है [और वह भी अश्लील नही होता है] ।

लोक [व्यवहार] से [संवीत] दबा हुआ 'लोक सवीत' जो पद होता है वह सवृत [पद] है [वह अश्लीलता दोष युक्त नही होता] । जैसे 'सुभगा', 'भगिनी', [इन दोनो पदो में 'भग' शब्द स्त्री के गुह्याङ्ग अर्थात् योनि का

सवीतस्य हि लोकेन न दोषान्वेषणं क्षमम् ।
शिवलिङ्गस्य संस्थाने कस्यासभ्यत्वभावना ॥ १८ ॥

तत्त्रैविध्य व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलातङ्कदायिभेदात् । २,१,१९ ।

तस्याश्लीलस्य त्रैविध्यं भवति, व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलातङ्कदायि-भेदात् । किंचिद् व्रीडादायि यथा 'वाक्काटवम्', 'हिरण्यरेता.' इति । किञ्चिज्जुगुप्सादायि यथा 'कपर्दकः' इति । किञ्चिदमङ्गलातङ्कदायि यथा 'संस्थितः' इति ॥ १९ ॥

वाचक है], 'उपस्थान' [समीपस्थ होना या स्तुति करना । इसमें 'उपस्थ' अंश से पुरुष के गुह्याङ्ग अर्थात् उपस्थेन्द्रिय का बोध होता है], 'अभिप्रेतम्' [का अर्थ अभिप्राय होता है परन्तु उसके 'प्रेत' अंश से मुर्दा का बोध होता है], 'कुमारी',' दोहद' [दोहद पद इच्छा का बोधक है परन्तु उससे 'हद पुरीषोत्सर्गे' धातु की स्मृति होती है जो जुगुप्सा व्यञ्जक है । परन्तु इन सब स्थलों में यह अश्लीलता व्यञ्जक अर्थ लोक व्यवहार से दब गए है । भगिनी आदि शब्दो का बहिन आदि सुन्दर अर्थो में अत्यधिक प्रयोग होता है । जिसके कारण अन्य असभ्य अर्थ सामने नहीं आते है । उन शब्दो के प्रयोग में अश्लीलता नहीं है] इस विषय में [किसी प्राचीन आचार्य का] श्लोक [भी] है—

[असभ्यार्थ के] लोक व्यवहार से दबे हुए [असभ्यार्थ वाले भगिनी आदि पदो] के दोष का अनुसन्धान उचित नहीं है । [साक्षात्] शिवलिङ्ग की स्थापना में [भी] असभ्यार्थ की भावना किस को होती है [किसी को नहीं । क्योकि लोक व्यवहार में शिवलिङ्ग सार्वजनिक पूजा का पात्र बन गया है ।] ॥ १८ ॥

उस [अश्लील अर्थ] के व्रीडा [लज्जा], जुगुप्सा [घृणा] और [अनिष्ट भय को देने वाला] अमङ्गलातङ्कदायी भेद से तीन प्रकार होते है ।

उस अश्लील के तीन भेद होते है । व्रीडादायी [लज्जाजनक], जुगुप्सादायी [घृणाकारक] और अमङ्गलातङ्कदायी [अनर्थभय के देने वाला] भेद होने से । कोई [पद] लज्जाजनक होता है, जैसे 'वाक्काटवम्' और 'हिरण्यरेता.' यह । ['वाक्काटवम्' का अर्थ होता है वचन की तीक्ष्णता । परन्तु इसका 'काटव' यह एक देश लिङ्ग की प्रतीति कराने वाला होने से व्रीडादायी, लज्जाजनक, होने से अश्लील है । इसी प्रकार 'हिरण्यरेता.' में रेतस् अंश वीर्य का बोधक होने से व्रीडादायी अश्लील है ।] कोई [पद] जुगुप्सादायी [घृणा-

व्यवहितार्थप्रत्यय क्लिष्टम् । २, १, २० ।

अर्थस्य प्रतीतिरर्थप्रत्ययः । स व्यवहितो यस्माद् भवति तद् व्यवहितार्थप्रत्ययं क्लिष्टम् । यथा--

दक्षात्मजादयितवल्लभवेदिकानां
ज्योत्स्नाजुषां जललवास्तरलं पतन्ति ।

दक्षात्मजास्तारा: । तासां दयितो दक्षात्मजादयितश्चन्द्रः । तस्य वल्लभाश्चन्द्रकान्ताः । तद्वेदिकानामिति अत्र हि व्यवधानेनार्थ-प्रत्ययः ॥ २० ॥

जनक होने से अश्लील होता है] जैसे 'कपर्दक' यह [कौड़ी वाचक होने पर भी 'पर्द' शब्द 'पर्द कुत्सिते शब्दे' इस धातु पाठ के अनुसार और 'पर्दस्तु गुदजे शब्दे' इस कोष के अनुसार अपान वायु का बोधक होने से जुगुप्साव्यञ्जक अश्लील है] कोई [पद] अमङ्गलातङ्कदायी [अनिष्ट अनर्थ का भय दिखाने वाला होने से अमङ्गल व्यञ्जक अश्लील] होता है । जैसे 'सस्थित.' यह पद । [भली प्रकार से स्थित, इस अर्थ में प्रयुक्त होता है । परन्तु उसका दूसरा अर्थ 'मृतः' भी होता है, इसलिए यह अमङ्गलातङ्कदायी अश्लील है ।] ॥ १६ ॥

जिस पद के अर्थ की प्रतीति व्यवधान से हो उसको 'क्लिष्ट' कहते हैं ।

अर्थ की प्रतीति को अर्थ प्रत्यय कहते हैं । वह [अर्थ प्रत्यय] जिस [पद] से व्यवहित [व्यवधान से] होती है [साक्षात् नहीं] वह व्यवहित अर्थ प्रतीति वाला [पद] क्लिष्ट कहलाता है । जैसे—

[दक्षात्मजा] दक्ष की पुत्री [तारा] के [दयित] प्रिय [चन्द्रमा] की वल्लभाओ [चन्द्रकान्त मणियो] की वेदिकाओ के चादनी के साथ संयोग से चञ्चल जल कण गिर रहे हैं ।

[इस श्लोक में] दक्षात्मजा [का अर्थ] तारा है । उनका दयित [अर्थात् प्रिय हुआ] दक्षात्मजादयित अर्थात् चन्द्रमा । उसकी वल्लभा चन्द्रकान्त [मणि हुई] उस [चन्द्रकान्त मणि] की [बनी हुई] वेदिकाओ के । यहा [दक्षात्मजादयितवल्लभ पद से चन्द्रकान्त मणि रूप] अर्थ की प्रतीति व्यवधान से होती है [इसलिए इसे क्लिष्टत्व दोष का उदाहरण समझना चाहिए] ।

यह क्लिष्टत्व दोष का उदाहरण दिया है । इसके पूर्व 'नेयार्थ' का जो उदाहरण ग्रन्थकार ने दिया था वह भी कुछ इसी प्रकार का उदाहरण था । इसलिए 'नेयार्थत्व' और 'क्लिष्टत्व' का भेद दिखलाने की आवश्यकता है । वामन ने

अरूढार्थत्वात् । २, १, २१ ।

अरूढार्थत्वेऽपि यतोऽर्थप्रत्ययो झटिति, न तत् क्लिष्टम्। यथा—

काञ्चीगुणस्थानमनिन्दितायाः ।

इति ॥ २१ ॥

अन्त्याभ्या वाक्य व्याख्यातम् । २, १, २२ ।

अश्लीलं क्लिष्टञ्चेत्यन्त्ये पदे । ताभ्यां वाक्यं व्याख्यातम्। तदप्यश्लीलं क्लिष्टञ्च भवति । अश्लीलं यथा—

जिसको 'कल्पितार्थ नेयार्थम्' कहा है उसी को नवीन आचार्यों ने 'रूढ़िप्रयोजनाभावादशक्तिकृतलक्ष्यार्थप्रकाशनं नेयार्थम्' कहा है। अर्थात् जहा रूढ़ि अथवा प्रयोजन रूप लक्षणा के प्रयोजक हेतुओं के अभाव मे लक्ष्यार्थ का प्रकाशन हो उसे 'नेयार्थ' कहते हैं। और व्यवहितार्थ प्रतीति को 'क्लिष्टत्व' कहते हैं। अर्थात् 'क्लिष्टत्व' मे लक्षणा की आवश्यकता नही होती है केवल अर्थ की प्रतीति में विलम्ब होता है। जैसे 'दक्षात्मजादयित' का अर्थ तारापति चन्द्र, अथवा 'दक्षात्मजादयितवल्लभा' का चन्द्रकान्ता अर्थ लक्षणा से नही, अभिधा से ही हो सकता है। उसकी प्रतीति झटिति नही तनिक विलम्ब से होती है। इसलिए यहा 'क्लिष्टत्व' दोष माना है। परन्तु 'विहङ्गमनामभृत्' का 'रथ' यह अर्थ अभिधा से नही हो सकता है। इसी प्रकार 'उलूकजिता' मे भी मेघनाद अर्थ अभिधा से सम्भव न होने से लक्षणा का ही आश्रय लेना होगा। इसलिए उसे 'नेयार्थ' का उदाहरण कहा है।

[क्लिष्ट दोष के स्थल में व्यवहित अर्थ की प्रतीति] अरूढ़ अर्थ होने से [विलम्ब से होती है]।

[अरूढ अर्थात् अप्रसिद्ध अर्थ होने के कारण जहाँ अर्थ की प्रतीति में विलम्ब होता है वहाँ क्लिष्टत्व दोष होता है । परन्तु] अरूढ़ [अप्रसिद्ध] अर्थ होने पर भी जिस [शब्द] से अर्थ की प्रतीति झट से हो जाती है वह 'क्लिष्टत्व' नहीं कहलाता है। जैसे—

सुन्दरी के करधनी पहिनने का स्थान [अर्थात् कमर] यह। [यहाँ 'काञ्चीगुणस्थान' पद कटि देश के अर्थ में रूढ नहीं है, परन्तु उससे अर्थ की प्रतीति तुरन्त बिना विलम्ब के हो जाती है इस लिए यहाँ क्लिष्टत्व दोष नहीं माना जाता है।] ॥२१॥

अन्तिम दोनो [अर्थात् अश्लीलत्व तथा क्लिष्टत्व रूप पद-दोषो] से

न सा धनोन्नतिर्या स्यान् कलत्ररतिदायिनी ।
परार्थबद्धकक्ष्याणां यत् सत्यं पेलवं धनम् ॥ १ ॥
सोपानपथमुत्सृज्य वायुवेगः समुद्यतः ।
महापथेन गतवान् कीर्त्यमानगुणो जनैः ॥ २ ॥

वाक्य [वाक्यगत अश्लीलत्व तथा क्लिष्टत्व] की व्याख्या हो गई । [अर्थात् इस अध्याय में यद्यपि वाक्य-दोषो का निरूपण नहीं किया गया है परन्तु क्लिष्टत्व और अश्लीलत्व यह दोनों दोष पदार्थदोष के अतिरिक्त वाक्यदोष भी होते है । उनके वाक्यगत उदाहरण आगे वृत्ति ग्रन्थ में देते है ।]

अश्लील और क्लिष्टत्व यह अन्तिम दो पद है । उनके द्वारा वाक्य [अर्थात् वाक्यगत अश्लीलत्व तथा क्लिष्टत्व] की व्याख्या हुई [समझना चाहिए ।] वह [वाक्य] भी अश्लील तथा क्लिष्टत्व हो सकता है ।

[वाक्यगत] अश्लील [का उदाहरण] जैसे—

उस को धन की उन्नति नहीं कहते है जो [किसी दूसरे के या परोपकार के काम में न आवे] केवल अपनी स्त्री [अपने बीवी-बच्चों] के ही सुख के लिए हो । दूसरो के [उपकार] के लिए कमर कसे हुए लोगो का धन ही वस्तुतः सुन्दर [और यथार्थ] धन है ।

यह इस श्लोक का अभिप्रेत अर्थ है । परन्तु उससे दूसरा व्रीडादायि अश्लील अर्थ भी निकलता है । 'साधन' का अर्थ लिङ्ग होता है । कलत्र अर्थात् स्त्री की रतिदायिनी, साधन अर्थात् लिङ्ग की उन्नति, जो केवल अपनी स्त्री के लिए आनन्ददायक लिङ्ग की उन्नति है वह वास्तविक 'साधनोन्नति' नहीं है अपितु परार्थ के लिए कमर कसे हुए अर्थात् अन्य स्त्रियों के साथ भी सम्भोग के लिए समर्थ पुरुषो की 'साधनोन्नति' ही यथार्थ 'साधनोन्नति' है । यह अर्थ व्रीडादायि अश्लील होता है । और वह एक पद में नहीं परन्तु समस्त वाक्य से निकलता है । अतः वाक्यगत दोष है ।

[जुगुप्सा व्यञ्जक वाक्यगत अश्लीलता का दूसरा उदाहरण देते है ।] लोगो के द्वारा जिसके वेग भयङ्करता आदि] गुणो का कीर्तन किया जा रहा है ऐसा वायु का प्रचण्ड वेग [आंधी] सीढियो के [सङ्कीर्ण] मार्ग को छोड़कर महापथ [अर्थात् राजमार्ग] से निकल गया । [इसमें वह तीव्र, वायु का वेग अपानवायु के मार्ग को छोड़ कर महापथ अर्थात् मुखमार्ग से बड़ी जोर से डकार रूप से निकल गया ऐसा दूसरा अर्थ भी प्रतीत होता है । अतः यह वाक्यगत जुगुप्सा

क्लिष्टं यथा—

धम्मिलस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं कुरङ्गशावाक्ष्याः ।
रज्यत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम् ॥ २२ ॥

एतान् पदपदार्थदोषान् ज्ञात्वा कविस्त्यजेदिति तात्पर्यार्थः ॥२२॥

इति श्री पण्डितवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ
'दोषदर्शने' द्वितीयेऽधिकरणे प्रथमोऽध्यायः ।
पदपदार्थदोषविभागः ।

व्यञ्जक अश्लीलता का उदाहरण होता है] ।

इसी दूसरे उदाहरण मे 'महापथेन गतवान्' का दूसरा अर्थ 'परलोक-मार्गेण गतवान्' अर्थात् मर गया, यह भी हो सकता है । उस दशा मे यह वाक्यगत अमङ्गलातङ्कदायी अश्लीलता का उदाहरण हो जायगा ।

इस प्रकार इन दोनों श्लोको मे अश्लीलता दोष के व्रीडादायी, जुगुप्सा-दायी और अमङ्गलातङ्कदायी तीनो प्रकार के भेदों के वाक्यगत उदाहरण दिखा दिए हैं । अब आगे एक श्लोक वाक्यगत 'क्लिष्टत्व' दोप का दिखलाते हैं ।

क्लिष्टत्व [का उदाहरण] जैसे—

मृग शावक के नेत्रो के समान नेत्र वाली [उस सुन्दरी] के केशपाश [धम्मिल जूडा, केशपाश] के बाधने की अपूर्व चतुरता की शोभा को देखकर किस का मन अत्यन्त प्रसन्न नहीं होता ।

इस श्लोक का अर्थ दूरान्वय के कारण समझना कठिन हो जाता है । 'कुरङ्गशावाक्ष्या. धम्मिलस्य अपूर्वबन्धव्युत्पत्तेः शोभा निरीक्ष्य कस्य मानस निकाम न रज्यति' इस प्रकार इसका अन्वय होता है । परन्तु इन सब पदों के अत्यन्त व्यवहित होने से वाक्य के अर्थ की प्रतीति बडी कठिनता से होती है ।

श्री पण्डितवरवामनविरचित 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' मे
द्वितीय 'दोषदर्शन' अधिकरण मे प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ।
पद और पदार्थ के दोपो का विभाग समाप्त हुआ ।

इति श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचिताया
काव्यालङ्कारदीपिकाया हिन्दीव्याख्याया
द्वितीये 'दोषदर्शनाधिकरणे' प्रथमोऽध्याय. समाप्तः ।

दोषदर्शननाम्नि द्वितीयाधिकरणे
द्वितीयोऽध्यायः
[वाक्य-वाक्यार्थ-दोष-विभागः]

पदपदार्थदोषान् प्रतिपाद्य वाक्यदोषान् दर्शयितुमाह—

भिन्नवृत्तयतिभ्रष्टविसन्धीनि वाक्यानि । २, २, १ ।

दुष्टानीत्यभिसम्बन्धः ॥ १ ॥

क्रमेण व्याचष्टे—

स्वलक्षणच्युतवृत्त भिन्नवृत्तम् । २, २, २, ।

स्वस्माल्लक्षणाच्च्युत वृत्तं यस्मिंस्तत् स्वलक्षणच्युतं वृत्तं वाक्यं भिन्नवृत्तम् । यथा—

अयि पश्यसि सौधमाश्रिता—
मविरलसुमनोमालभारिणीम् ।

'दोषदर्शन' नामक द्वितीय अधिकरण का द्वितीय अध्याय
[वाक्य तथा वाक्यार्थ दोषों का विभाग]

[द्वितीय अधिकरण के पिछले प्रथम अध्याय में] पद-दोषो तथा पदार्थ-दोषो का प्रतिपादन करके [अब इस द्वितीय अध्याय में] वाक्य-दोषो को दिखाने के लिए कहते हैं—

भिन्नवृत्त, यतिभ्रष्ट और विसन्धि [तीन प्रकार के] वाक्य [दोष] है । [पिछले अध्याय के चतुर्थ सूत्र से 'दुष्ट' पद के एक वचन का 'दुष्टानि' बहुवचन में वचन-विपरिणाम करके भिन्नवृत्त, यतिभ्रष्ट और विसन्धि तीन प्रकार के वाक्य] दुष्ट होते हैं यह सम्बन्ध [पिछले प्रकरण से] है ॥ १ ॥

[इन तीनो प्रकार के वाक्य-दोषो की] क्रम से व्याख्या करते हैं ।

अपने लक्षण से हीन वृत्त [छन्द] को भिन्नवृत्त [दोष ग्रस्त] कहते हैं । जिस [श्लोक वाक्य] में वृत्त [छन्द] अपने लक्षण से च्युत हो वह स्वलक्षणच्युत वृत्त वाला [श्लोक] वाक्य भिन्नवृत्त होता है । जैसे—

अरे [मित्र] सघन [अविरल] पुष्पो की माला के भार को धारण

वैतालीययुग्मपादे लघ्वक्षराणां षण्णां नैरन्तर्यं निषिद्धम्, तच्च कृतमिति भिन्नवृत्तम् ॥ २ ॥

विरसविराम यतिभ्रष्टम् । २, २, ३ ।

विरसः श्रुतिकटुर्विरामो यस्मिंस्तद् विरसविरामं यतिभ्रष्टम् ॥ ३ ॥

तद्धातुनामभागभेदे स्वरसन्ध्यकृते प्रायेण । २, २, ४ ।

तद् यतिभ्रष्टं धातुभागभेदे नामभागभेदे च सति भवति। स्वरसन्धिनाऽकृते प्रायेण ।

करने वाली, महल [सौध-प्रासाद] के ऊपर खडी हुई [नायिका] को देख रहे हो ।

यह श्लोक 'वैतालीय' वृत्त मे लिखा गया है । 'वैतालीय' वृत का लक्षण 'वृतरत्नाकर' ग्रन्थ में इस प्रकार किया गया है—

षड्विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नो निरन्तराः ।
न समात्र पराश्रिताः कला वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः ॥

वैतालीय [वृत्त] के सम [अर्थात् द्वितीय तथा चतुर्थ] चरणो में निरन्तर छ लघु अक्षरो [एकसी छः मात्राओ] का निषेध किया हुआ है । [परन्तु उक्त उदाहरण में 'अविरलसुम' यह छहो लघु मात्राएं निरन्तर प्रयुक्त करके, जो निषिद्ध है] वह ही किया गया है इसलिए [यहां 'वैतालीय' वृत्त अपने लक्षण से च्युत हो जाने से] 'भिन्नवृत्त' [दोष से युक्त] है । [अतएव इस को भिन्नवृत्त के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है] ॥ २ ॥

'भिन्नवृत्त' के बाद 'यतिभ्रष्ट' नामक दूसरे वाक्यदोष का निरुपण करते हैं—

विरस [अरुचिकर स्थल में] विराम वाला [श्लोक वाक्य] यतिभ्रष्ट [कहलाता] है ।

विरस अर्थात् श्रुतिकटु [सुनने में बुरा लगने वाला] विराम जिस [श्लोक वाक्य] में हो वह विरस विराम [यह बहुव्रीहि समास है] वाला [श्लोक वाक्य] यतिभ्रष्ट [दोष से युक्त कहलाता] है ॥ ३ ॥

वह [यतिभ्रष्ट दोष] प्रायः स्वरसन्धि के [नियम के] विना [स्वर सन्धि के नियम के विपरीत] किए हुए धातु अथवा [नाम] प्रातिपादिक भाग में टुकडे कर देने पर होता है ।

वह यतिभ्रष्ट [दोष] प्रायः स्वरसन्धि के विना, [स्वर सन्धि के

धातुभागभेदे मन्दाक्रान्तायां यथा—

एतासां राजति सुमनसां, दाम कण्ठावलम्बि ।

नामभागभेदे शिखरिण्याम् यथा—

कुरङ्गाक्षीणां गण्डतलफलके स्वेदविसरः ।

नियम के बिना] धातु-भाग अथवा प्रातिपदिक-भाग [नाम] का भेद [टुकड़े] कर देने पर होता है।

धातु-भाग के विभाग कर देने पर [यतिभ्रष्ट का उदाहरण] मन्दाक्रान्ता [छन्द] में जैसे—

इनके गले में पड़ी हुई फूलों की माला शोभित होती है।

यह मूल श्लोक 'मन्दाक्रान्ता' छन्द मे लिखा गया है। मन्दाक्रान्ता छन्द का लक्षण इस प्रकार है—

मन्दाक्रान्ता, जलधिषडगै, म्भौ नतौ ताद् गुरू चेत् ।

अर्थात् मन्दाक्रान्ता छन्द में प्रत्येक पाद १७ अक्षर का होता है। वह १७ अक्षर भगण, मगण, नगण, तगण-तगण और दो गुरु इस प्रकार पूरे होते हैं। इनमे चार, छः और सात अक्षरों के बाद 'यति' होनी चाहिए। अर्थात् पहली यति चौथे अक्षर के बाद, उसके छः अक्षरों के बाद अर्थात् दसवें अक्षर के अन्त में दूसरी और उसके सात अक्षर बाद अर्थात् सत्रहवे अक्षर के बाद अन्तिम 'यति' होनी चाहिए। इस लक्षण के अनुसार पहिली 'यति' चार अक्षर के बाद अर्थात् एतासा ग, यहा पर होनी चाहिए। यह 'रा' 'राजति' पद के मूलभूत 'राज' धातु का एक अंश है। इसके बाद 'यति' कर देने मे राज धातु के टुकडे हो जाते है। इसलिए धातुभाग के भेद होने से यहा 'यतिभ्रष्ट' दोष माना गया है।

[नाम] प्रातिपदिक भाग के भेद [भङ्ग] होने पर शिखरिणी [छन्द] में [यतिभ्रष्ट का उदाहरण] जैसे—

मृगनयनियों के [कपोलफलक] गाल के ऊपर पसीना बह रहा है।

यह शिखरिणी छन्द का एक पाद है। 'शिखरिणी' छन्द का लक्षण इस प्रकार है—

रसैः रुद्रैश्छिन्ना, यमनसभला गः शिखरिणी ।

अर्थात् यगण, मगण, नगण, सगण, भगण, लघु तथा गुरु इस प्रकार

मन्दाक्रान्तायां यथा—

दुर्दर्शश्चक्रशिखिकपिशः, शार्ङ्गिणो बाहुदण्डः ।

धातु-नाम-भागपदग्रहणात् तद्भागातिरिक्तभेदे न भवति यतिभ्रष्टत्वम् ।

यथा मन्दाक्रान्तायाम्—

शोभां पुष्यत्ययमभिनवः, सुन्दरीणां प्रबोधः ।

से १७ अक्षरों के पाद वाला छन्द 'शिखरिणी' होता है । इसमे रस अर्थात् छः और रुद्र ग्यारह अक्षरों के बाद 'यति' होती है । पहली 'यति' छठे वर्ण के बाद और दूसरी 'यति' १७ वर्ण के बाद अर्थात् पादान्त मे होती है । इस लक्षण के अनुसार कुरङ्गाक्षीणा ग', यहा पर छः अक्षरो के बाद पहिला 'यति' पडती है । परन्तु यह 'ग' गण्ड अथवा 'गण्डतलफलके' इस समस्त प्रातिपदिक का एक देश है । इसके बाद 'यति' करने से प्रातिपादिक दो टुकडों में बट जाता है । अतएव नाम-भागभेद के कारण यहा यतिभ्रष्टत्व दोष आता है ।

'मन्दाक्रान्ता' [छन्द] में [नामभागभेद से यतिभ्रष्ट का उदाहरण] जैसे—

चक्र [सुदर्शनचक्र] की अग्नि से [अथवा के समान] दीप्यमान [अथवा पीताम्बर परिवेष्टित अतएव पीत] विष्णु का भुजदण्ड है ।

मन्दाक्रान्ता के पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार प्रथम चार अक्षरों के बाद अर्थात् 'दुर्दर्शश्च', यहा पर यति होनी चाहिए । परन्तु यह 'च' 'चक्र' पद का एक देश है । उसके बाद यति कर देने से 'चक्र' इस प्रातिपदिक अथवा नाम-भाग में भेद हो जाता है । इसलिए यह 'यतिभ्रष्ट' दोष ग्रस्त है ।

सूत्र में धातु [भाग] और नाम भाग पदो का ग्रहण करने से [यह अर्थ निकलता है कि] उन भागो से भिन्न [प्रकृति प्रत्यय आदि] में भेद [या खण्ड] हो जाने पर 'यतिभ्रष्टत्व' दोष नहीं होता है ।

जैसे 'मन्दाक्रान्ता' में [प्रकृति-प्रत्यय के बीच में यति होने पर भी 'यतिभ्रष्टत्व' दोष के न होने का निम्न उदाहरण]—

यह [रतिश्रमालस] सुन्दरियो का नवीन [प्रातःकालीन] जागरण [उनकी] शोभा को बढ़ा रहा है ।

इस मूल मन्दाक्रान्ता के चरण में चतुर्थाक्षर 'शोभा पुष्य' के बाद यति पडती है । यह 'पुष्य' का अन्तिम अक्षर 'पुष्यति' इस पद का अश है । परन्तु

शिखरिण्यां यथा—

विनिद्रः श्यामान्तेष्वधरपुटसीत्कारविरुतैः ।
स्वरसन्ध्यकृत इति वचनात् स्वरसन्धिकृते भेदे न दोषः । यथा—
किञ्चिद्भावालसमसरलं प्रेक्षितं सुन्दरीणाम् ॥ ४ ॥

इस यति से धातु भाग के खण्ड नहीं होते हैं अपितु प्रकृति और तिप् प्रत्यय के बीच में यति पड़ती है इसलिए वह दोषाधायक नहीं है ।

[इसी प्रकार प्रातिपदिक और प्रत्यय के बीच हुई यति का] शिखरिणी [वृत्त] में [निम्न उदाहरण है] जैसे—

रात्रि [श्यामा रात्रि] के अन्त में [प्रातःकाल] अधरपुट के सीत्कार के शब्द से जगा हुआ ।

'शिखरिणी' छन्द के इस चरण में, छठे अक्षर के बाद 'विनिद्रः श्यामान्ते' यहा पर 'यति' पड़ती है । परन्तु 'श्यामान्ते' यहा पद पूर्ण नहीं होता है । 'श्यामान्तेषु' यहा पर पद पूर्ण होता है । इसलिए यह 'यति' पद के बीच में पड़ती है परन्तु उससे प्रातिपदिक के खण्ड नहीं होते अपितु प्रातिपदिक और सुप् प्रत्यय के बीच मे 'यति' पड़ती है । इस प्रकार की 'यति' वैरस्यतापादक नहीं होती है । इसलिए यहा 'यतिभ्रष्टत्व' दोष नहीं होता है ।

[सूत्र में] 'स्वरसन्ध्यकृते' स्वर-सन्धि के बिना [मूल रूप से] किये हुए कहने से स्वर-सन्धि से किए हुए [अर्थात् स्वर-सन्धि से बने हुए धातुभाग-प्रातिपदिक अथवा नामभाग के] भेद होने पर दोष नहीं होता है [यह अभिप्राय निकलता है । इस प्रकार का उदाहरण देते हैं] जैसे—

कुछ भाव भरी [अतः] अलसाई सी सुन्दरियो की तिरछी चितवन ।

यह भी 'मन्दाक्रान्ता' छन्द का एक चरण है । नियमानुसार इसमें चतुर्थ अक्षर के बाद अर्थात् 'किञ्चिद्भावा' के बाद 'यति' पड़ती है । किन्तु यहा पूरा पद 'किञ्चिद्भावालस' है । उसके बीच में 'यति' पड़ रही है । परन्तु वहा भाव और अलस दो पदों के बीच 'अकः सवर्णे दीर्घः' इस सूत्र से दीर्घ होकर 'किञ्चिद्भावालस' बनता है । इस सन्धिकृत पद मे से 'यति' के अवसर पर 'किञ्चिद्-भावा' अश एक ओर, और 'लस' दूसरी ओर निकल जाता है । परन्तु फिर भी इस प्रकार की यति वैरस्याधायक नहीं होती है । इसलिए स्वरसन्धिकृत अर्थात् स्वर सन्धि से बने हुए नाम अर्थात् प्रातिपदिक अथवा धातु के खण्ड होने पर भी ऐसे स्थलो मे 'यतिभ्रष्टत्व' दोष नहीं होता है । यह सूत्रकार का अभिप्राय है ॥ ४ ॥

न वृत्तदोषात् पृथग्यतिदोषो वृत्तस्य यत्यात्मकत्वात् ।२,२,५।

वृत्तदोषात् पृथग् यतिदोषो न वक्तव्यः । वृत्तस्य यत्यात्मकत्वात् ॥ ५ ॥

यत्यात्मकं हि वृत्तमिति भिन्नवृत्त एव यतिभ्रष्टस्यान्तर्भावान्न पृथग् ग्रहणं कार्यम् । अत आह—

न, लक्ष्मण पृथक्त्वात् । २, २, ६ ।

नायं दोषः, लक्ष्मणो लक्षणस्य पृथक्त्वात् । अन्यद्धि लक्षणं वृत्तस्यान्यद् यतेः । गुरुलघुनियमात्मक वृत्तं, विरामात्मिका च यतिरिति ॥ ६ ॥

यहा तक वाक्यदोषों मे 'भिन्नवृत्त' और 'यतिभ्रष्ट' दो दोष दिखाए हैं। यहा यह शङ्का उपस्थित होती है कि यह दोनो प्रकार के दोष वृत्त अर्थात् छन्द में ही पाए जाने वाले दोष हैं। दोनों ही वृत्त अर्थात् छन्द के वैरस्यापादक होते हैं। इसलिए 'भिन्नवृत्त' से 'यतिभ्रष्ट' दोष को पृथक् मानने की क्या आवश्यकता है। इस प्रश्न को उठाकर उसका समाधान करने के लिए ग्रन्थकार अगले प्रकरण का प्रारम्भ करते हैं।

वृत्त के [भी] यतिविशिष्ट [यत्यात्मक] होने से वृत्तदोष से पृथग् यतिदोष ['यतिभ्रष्ट' दोष का मानना उचित] नहीं है।

वृत्त दोष से पृथक् यति दोष कहना उचित नहीं है। वृत्त के यतिविशिष्ट [या यति स्वरूप] होने से ॥ ५ ॥

वृत्त यत्यात्मक [यतिविशिष्ट ही] होता है इसलिए भिन्न वृत्त में ही यतिभ्रष्ट [दोष] का [भी] अन्तर्भाव हो जाने से [यतिभ्रष्ट दोष का] पृथग् ग्रहण नहीं करना चाहिए। [यह शङ्का हो सकती है] इसलिए [उसके समाधानार्थ] कहते हैं—

['भिन्नवृत्त' और 'यतिभ्रष्ट' दोनो के] लक्षणो के भिन्न होने से यह [दोनो दोषो को अभिन्न कहना] ठीक नहीं है।

यह [आपका दिखाया हुआ] दोष [ठीक] नहीं है। [भिन्नवृत्तत्व तथा यतिभ्रष्टत्व दोनो के] लक्ष्म अर्थात् लक्षण के पृथक् होने से। वृत्त का लक्षण और है और यति का लक्षण अन्य है। [वाक्य में] गुरु लघु [रूप से वर्ण विन्यास] का नियामक वृत्त होता है और विराम रूप [विराम की नियामिका] यति होती है।

विरूपपदसन्धिर्विसन्धि. । २, २, ७ ।

पदानां सन्धिः पदसन्धिः स च स्वरसमवायरूपः प्रत्यासत्तिमात्ररूपो वा । स विरूपो यस्मिन्निति विग्रह. ॥ ७ ॥

पदसन्धिवैरूप्य विश्लेषोऽश्लीलत्व कष्टत्वञ्च । २, २, ८ ।

विश्लेषो विभागेन पदाना संस्थितिरिति । अश्लीलत्वमसभ्यस्मृतिहेतुत्वम् । कष्टत्वं पारुष्यमिति । विश्लेषो यथा—

इस प्रकार दोनो के लक्षण भिन्न होने से दोनो को अभिन्न मानना उचित नही है । इसी कारण अस्थान मे विराम रूप यतिभ्रष्टत्व रहने पर भी गुरु-लघु नियम के यथावत् विद्यमान रहने पर भिन्नवृत्तत्व दोष नहीं होता । इसी प्रकार गुरु-लघु नियम का भङ्ग हो जाने से भिन्नवृत्तत्व दोष के होने पर भी विराम मे वैरस्य न होने से यतिभ्रष्टत्व दोष नही होता । अतः अन्वय-व्यतिरेक के भेद से भी भिन्नवृत्तत्व और यतिभ्रष्टत्व दोष एक नही हो सकते हैं । उनको अलग-अलग मानना ही उचित है ॥ ६ ॥

जहां पदो की विरूप [अनुचित] सन्धि हो उसको 'विसन्धि' दोष कहते है ।

पदो की सन्धि [यह] पदसन्धि [समास का विग्रह] है । और वह [सन्धि] स्वरो का मिश्रण [समवाय] रूप अथवा [स्वरो की] प्रत्यासत्ति [समीपस्थिति मात्र दो प्रकार का] होता है । वह [स्वरसमवाय रूप अथवा स्वर प्रत्यासत्ति रूप सन्धि] जहा [जिस शब्द या वाक्य में] विरूप [अनुचित, वैरस्यापादक] हो [वह विसन्धि कहलाता है] यह विग्रह हुआ ॥ ७ ॥

[पूर्व सूत्र में कहा हुआ] पद-सन्धि का वैरूप्य १. विश्लेष रूप, २. अश्लीलत्व रूप, और ३ कष्टत्व रूप [तीन प्रकार का] होता है ।

[सन्धि होने योग्य स्थलो पर सन्धि न करके] अलग-अलग [विभागेन] पदो की स्थिति [रखना] विश्लेष [या सन्धि विश्लेष दोष कहलाता] है । [पदो की सन्धि कर देने से जहा] असभ्यार्थ की स्मृति का हेतुत्व [उस सन्धि में हो जाय वहा सन्धि का] अश्लीलत्व [दोष होता] है । और कष्टत्व [का अर्थ सन्धि से उत्पन्न पारुष्य] कठोरता है । [उनमें से] विश्लेष [का उदाहरण] जैसे—

१—मेघाऽनिलेन अमुना एतस्मिन्नद्रिकानने ।
२—कमले इव लोचने इमे अनुबध्नाति विलासपद्धतिः ।
३—लोलालकानुविद्धानि आननानि चकासति ।

इस पहाड़ी वन [प्रान्त] में इस मेघ की [वृष्टि सहित तीव्र] वायु ने ।

इस उदाहरण मे अनिलेन + अमुना मे दीर्घ तथा अमुना + एतस्मिन् मे वृद्धि नहीं की गई है इसलिए सन्धि विश्लेष रूप 'विसन्धि' दोष है ।

कमलों के समान सौन्दर्य इन नेत्रो को सुशोभित करता है ।

दूसरे उदाहरण मे १. कमले इव, २. लोचने इमे, ३. इमे अनुबध्नाति इन तीनों स्थानों पर प्राप्त होने वाली सन्धि [1]'ईदूदेद् द्विवचन प्रगृह्यम्' इस पाणिनि सूत्र से प्रगृह्य सज्ञा हो जाने से और [2]'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ।' इस सूत्र से प्रकृतिवद्भाव हो जाने से नहीं हो पाती है । इस प्रकार यह सन्धिविश्लेष शास्त्रादेश के अनुसार किया गया है । फिर भी अनेक बार इकट्ठा ही इस प्रकार का विश्लेष पाया जाता है । इसलिए वह श्रोता को वैरस्यापादक प्रतीत होता है । और कवि की अक्षमता का सूचक होने से दोष ही होता है । यह सन्धि विश्लेष का 'प्रगृह्य सज्ञा' निमित्तक एक प्रकार का भेद है । इस सन्धिविश्लेष का दूसरा भेद 'सन्ध्यविवक्षा' निबन्धन होता है अर्थात् जहा कवि, सन्धि की विवक्षा नहीं है ऐसा मान कर सन्धि नहीं करता है । इस प्रकार का दूसरा उदाहरण देते हैं—

चञ्चल केशपाश से घिरे हुए मुख शोभायमान हो रहे हैं ।

यहा 'लोलालकानुविद्धानि' के बाद 'आननानि' पद होने के कारण [3]'इको यणचि' सूत्र से यणादेश प्राप्त है । उसके अनुसार 'अनुविद्धान्याननानि' ऐसा प्रयोग होना चाहिए । परन्तु यदि ऐसा प्रयोग किया जाता है तो यह छन्द ठीक नही बनता है । इसलिए कवि ने यहा जान-बूझ कर सन्धि नहीं की है । यद्यपि सर्वत्र सन्धि करना नितान्त आवश्यक नहीं है अपितु सन्धि के विवक्षा के आधीन होने से, कवि, विवक्षित न होने पर सन्धि न करने के लिए स्वतत्र है । परन्तु ऐसे पदो का प्रयोग कवि की अशक्ति का सूचक अवश्य होता है । जहाँ सन्धि होनी चाहिए वहा सन्धि न करने के लिए बाधित होकर

---

[1] अष्टाध्यायी १, १, ११ । [2] अष्टाध्यायी ६, १, १२५ ।
[3] अष्टाध्यायी ६, १, ७७ ।

अश्लीलत्वं यथा —

१. विरेचकमिदं नृत्तमाचार्याभासयोजितम् ।

सन्धिविश्लेप का आश्रय लेना एक प्रकार का आपद्धर्म ही हो सकता है । उसका अवलम्बन तभी करना उचित है जब कोई अन्य मार्ग न हो । इसलिए जब कवि इस प्रकार का प्रयोग करता है तो यह निश्चित है कि उसके पास दूसरा और कोई मार्ग नहीं रह गया है । यही उसकी अशक्ति का परिचायक है । इसलिए विवक्षाधीन सन्धिविश्लेष यदि एक भी बार प्रयोग किया जाय तो भी वह दोषाधायक होता है । और प्रगृह्यसंज्ञा-निमित्तक सन्धि विश्लेष एक बार करने से दोष नही होता परन्तु इकट्ठा अनेक बार करने पर वह भी दोष हो जाता है। इसी लिए आगे इसी ग्रन्थ के 'काव्यसमयाध्याय' में [1]'नित्यं संहितैकपदवत् पादेष्वर्धान्तवर्जम्' यह सूत्र कहेगे । इसके अनुसार काव्य में एक चरण के अन्तर्गत पदों मे सन्धि नित्य करना चाहिए । व्याकरण के अनुसार सन्धि को विवक्षाधीन भले ही माना जाय परन्तु कवियो की परम्परा या 'समय' यह ही है कि जैसे एक पद के अन्तर्गत सन्धि अनिवार्य है इसी प्रकार श्लोक के एक चरण के अन्तर्गत भी नित्य सन्धि होती है इसलिए यदि विवक्षाधीन मानकर एक बार भी सन्धिविश्लेष होता है तो वह काव्य दोष ही माना जायगा ।

सन्धिविश्लेष दोप का निरूपण करने के बाद सन्धि अश्लीलता दोप का निरूपण करते हैं । जैसाकि पहिले कहा जा चुका है १ जुगुप्सा व्यञ्जक, २. व्रीड़ा व्यञ्जक और ३. अमङ्गलातङ्कदायि तीन प्रकार की अश्लीलता होती है । उन तीनों को दिखाने के लिए तीन उदाहरण देते है ।

१ [सन्धिविश्लेष में जुगुप्सादायि] अश्लीलत्व [का उदाहरण] जैसे—

अयोग्य आचार्य [आचार्याभास] द्वारा योजित [होने से] यह 'नृत्त' रेचक [नामक 'नृत्त' के भेद] से रहित [अतः विरेचक] है ।

इस उदाहरण मे 'विरेचक' पद का प्रयोग किया गया है। जिसका अर्थ 'रेचक' रहित होता है । 'रेचक' शब्द नाट्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है । नृत्यकाल में हाथ, पैर, कमर, गर्दन, आदि की विशेष प्रकार की जो चेष्टाएं होती है उनको 'रेचक' कहते है । सङ्गीतरत्नाकर मे कहा है—

'रेचकानथ वक्ष्यामश्चतुरो भरतोदितान् ।
पदयोः करयोः कट्या ग्रीवायाश्च भवन्ति ते ॥

---

[1] काव्यालङ्कार सूत्रवृत्तिः ५, १, २ ।

२. चकासे पनसप्रायैः पुरी षण्डमहाद्रुमैः ।
३. विना शपथदानाभ्यां पदवादसमुत्सुकम् ।

नाट्यशास्त्र के नियमो के अनुसार 'नृत्त ताललयाश्रयम्' प्रत्येक सुन्दर 'नृत्त' में इन 'रेचको' का होना आवश्यक है । नाट्यशास्त्र का जानने वाला कोई आचार्य 'रेचको' से हीन 'विरेचक' 'नृत्त' नही करवा सकता है। किन्तु यह 'नृत्त' 'विरेचक' अर्थात् उक्त 'रेचको' से हीन है इसलिए जान पड़ता है कि किसी 'आचार्याभास' अर्थात् अयोग्य किन्तु आचार्यम्मन्य व्यक्ति ने इसकी योजना की है । 'विरेचकमिद नृत्तमाचार्याभासयोजितम्' इस पद का यही अभिप्राय है। परन्तु इसमें 'विरेचक' पद दस्तावर का और 'याभ' पद मैथुन का स्मारक भी है, इसलिए यह दोनों क्रमशः 'जुगुप्सादायी' तथा 'व्रीडादायी' अश्लीलता के उदाहरण हो जाते हैं। 'विरेचक' पद मे अश्लीलता की स्थिति सन्धिदोष के कारण नहीं है। 'आचार्याभास' में 'याभ' अश जो मैथुन का स्मारक होने से 'व्रीडादायी' होता है उसमें अश्लीलता का प्रयोजक सन्धि ही है । इस लिए यह 'व्रीडादायी' अश्लीलता रूप सन्धि-दोष का उदाहरण है । 'जुगुप्सादायी' सन्धिदोष का उदाहरण दूसरा देते हैं—

जिनमें कटहल बहुतायत से हैं ऐसे बड़े-बड़े वृक्षो के झुण्डो से [घिरी हुई यह] नगरी शोभित हो रही थी।

इस उदाहरण मे 'पुरी पण्डमहाद्रुमैः' यह अश 'जुगुप्सा' व्यञ्जक अश्लीलता दोष से युक्त है । यहा यद्यपि स्वरसमुदाय रूप कोई सन्धि नहीं हुई है। परन्तु पुरी + षण्ड के समीपस्थ होने से 'प्रत्यासत्ति' रूप सन्धि मात्र से 'पुरीष' शब्द बन गया है जो 'विष्ठा' का स्मारक होने से यह 'जुगुप्सा-व्यञ्जक' अश्लीलता का उदाहरण है। तीसरा निम्न उदाहरण अश्लीलता के तीसरे भेद 'अमङ्गलातङ्कदायी' अश्लील का दिया गया है—

विना किसी [लोकोपकार आदि कार्य के] प्रतिज्ञा [शपथ] या [किसी प्रकार के] दान [आदि कार्य] के [किए हुए भी] पदवाद [पद प्राप्ति की योग्यता सूचन] के लिए उत्सुक को।

इसमें 'विना' और 'शपथ' शब्दों की प्रत्यासत्ति रूप सन्धि से 'विना-शपथ' शब्द बन गया है और उससे 'विनाशपथ' अर्थात् मृत्यु मार्ग की स्मृति होती है, अतः वह 'अमङ्गलातङ्कदायी' अश्लीलता का उदाहरण है और उसका कारण विना + शपथ शब्दों की प्रत्यासत्ति रूप सन्धि है। यहा मुख्यतः सन्धिदोष

कष्टत्वं यथा—

मञ्जर्युद्गमगर्भास्ते गुर्वाभोगा द्रुमा बभुः ॥ ८ ॥

एवं वाक्यदोषानभिधाय वाक्यार्थदोषान् प्रतिपादयितुमाह—

व्यर्थैकार्थसन्दिग्धाप्रयुक्तापक्रमलोकविद्या-
विरुद्धानि च । २, २, ९ ।

वाक्यानि दुष्टानीति सम्बन्धः ॥ ९ ॥

क्रमेण व्याख्यातुमाह—

व्याहतपूर्वोत्तरार्थं व्यर्थम् । २, २, १० ।

के प्रसङ्ग मे अश्लीलता का निरूपण हुआ है इसलिए ऐसे उदाहरण अधिक उपयुक्त रहते जिनमे वास्तव में सन्धि होने पर अश्लीलता आई होती। यह जो उदाहरण दिए गए हैं उनमे प्रत्यासत्ति मात्र के कारण अश्लीलता है। इसलिए वह उतने उपयुक्त नहीं बने हैं।

[सन्धि होने पर] कष्टत्व [दुःश्रवत्व का उदाहरण] जैसे—

मञ्जरी के उद्गम से युक्त वे बड़े-बड़े वृक्ष शोभित हुए ।

इस उदाहरण में मञ्जरी + उद्गम तथा गुरु + आभोग पदों में यणादेश हो कर बने हुए 'मञ्जर्युद्गम' और गुर्वाभोग' पदों मे सन्धि के कारण ऊपर चढ़े हुए रेफ के संयोग से 'कष्टता' या 'दुःश्रवता' आ गई है। अतएव यह 'सन्धिकष्टता' के उदाहरण हैं ॥ ८ ॥

इस प्रकार वाक्यदोषों का कथन करके अब वाक्यार्थ दोषो का प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—

१ व्यर्थ, २ एकार्थ, ३ सन्दिग्ध, ४ अप्रयुक्त, ५ अपक्रम, ६ लोकविरुद्ध और ७ विद्याविरुद्ध [सात प्रकार के] वाक्यार्थ दोष हैं।

[पूर्वोक्त सात प्रकार के] वाक्य दुष्ट [अर्थ वाले] हैं यह [पिछले सूत्र के साथ] सम्बन्ध है। [इस प्रकार इस सूत्र में सात प्रकार के वाक्यार्थ दोषों का 'उद्देश' अर्थात् 'नाममात्रेण कथन' किया गया है। आगे उनके लक्षण करेंगे] ॥ ९ ॥

क्रम से [उन वाक्यार्थ दोषों की] व्याख्या करने के लिए कहते हैं—

आगे पीछे के [पूर्व और उत्तर] अर्थ का जिसमें [विरोध, व्याघात] हो वह 'व्यर्थ' [दोष] कहलाता है।

व्याहतौ पूर्वोत्तरावर्थौ यस्मिंस्तद् व्याहतपूर्वोत्तरार्थं वाक्यं व्यर्थम्। यथा—

अद्यापि स्मरति रभालसं मनो मे
मुग्धायाः स्मरचतुराणि चेष्टितानि ॥

मुग्धायाः कथं स्मरचतुराणि चेष्टितानि। तानि चेत् कथं मुग्धा। अत्र पूर्वोत्तरयोरर्थयोर्विरोधाद् व्यर्थमिति ॥ १० ॥

उक्तार्थपदमेकार्थम्। २, २, ११।

उक्तार्थानि पदानि यस्मिंस्तदुक्तार्थपदमेकार्थम्। यथा—

चिन्तामोहमनङ्गमङ्ग तनुते विप्रेक्षितं सुभ्रुवः।

अनङ्गः शृङ्गारः। तस्य चिन्तामोहात्मकत्वाच्चिन्तामोहशब्दौ प्रयुक्तावुक्तार्थौ भवतः। एकार्थपदत्वाद् वाक्यमेकार्थमित्युक्तम् ॥ ११ ॥

जिस [वाक्य] में [पूर्व और उत्तर] आगे-पीछे के अर्थ परस्पर विरुद्ध [व्याहत] हो वह परस्पर विरुद्धार्थ वाला वाक्य 'व्यर्थ' [कहलाता] है। जैसे—

[सम्भोगकालीन] आनन्द से परिपूर्ण मेरा मन अब भी 'मुग्धा' पत्नी की रति-क्रीड़ा की चतुरतापूर्ण चेष्टाओं को याद कर रहा है।

[इसम वधू को 'मुग्धा' और उसकी चेष्टाओं को 'स्मरचतुराणि चेष्टितानि' कहा है। यह दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं। क्योंकि यदि वह 'मुग्धा' है तो [मुग्धा तु 'रतौ वामा'] 'मुग्धा' की चेष्टाएं 'रतिचतुर' कैसे [हो सकती हैं] और यदि [उसकी चेष्टाएं] उस प्रकार की [रति चतुर] हैं तो वह 'मुग्धा' कैसे [हो सकती है इस प्रकार] यहां आगे-पीछे की बातों [पूर्व और उत्तर अर्थों] में विरोध होने से 'व्यर्थत्व' दोष है ॥ १० ॥

पुनरुक्त [उक्त अर्थ वाला] पद 'एकार्थ' [दोष कहलाता] है।

जिस [वाक्य] में [उक्तार्थ] पुनरुक्त पद हो वह उक्तार्थ [पुनरुक्त] पद वाला [वाक्य] 'एकार्थ' [वाक्यदोष कहलाता] है। जैसे—

उस सुन्दरी का कटाक्ष चिन्ता, मोह और काम को उत्पन्न करता है।

[यहां] अनङ्ग [का अर्थ] शृङ्गार है। उसके [स्वयं ही] चिन्ता और मोहात्मक होने से [अर्थात् चिन्ता तथा मोह के उसी काम के अन्तर्गत हो

न विशेषश्चेत् । २, २, १२ ।

न गतार्थं दुष्टं, विशेषश्चेत् प्रतिपाद्यः स्यात् ॥ १२ ॥

तं विशेषं प्रतिपादयितुमाह—

धनुर्ज्याध्वनौ धनुःश्रुतिरारूढे. प्रतिपत्त्यै । १३ ।

धनुर्ज्याध्वनावित्यत्र ज्याशब्देनोक्तार्थत्वेऽपि धनुःश्रुतिः प्रयुज्यते।

जाने से] चिन्ता और मोह शब्द का [पृथक्] प्रयोग [उक्तार्थ] पुनरुक्त हो जाता है। [वाक्य के] पुनरुक्त पद वाला होने से [छत्रि-न्याय से समस्त] वाक्य को पुनरुक्त [उक्तार्थ] कहा है।

[इसका अभिप्राय यह है कि उक्तार्थता या पुनरुक्ति तो पदो की होती है इसको वाक्यार्थ दोष कैसे कहा है। यह प्रश्न है। इसका समाधान ग्रन्थकार ने इस प्रकार किया है कि पुनरुक्ति का सम्बन्ध दो या अनेक पदो से होता है अतः उसको वाक्य दोष ही समझना चाहिए। अथवा इस समाधान का दूसरा अभिप्राय यह भी हो सकता है कि जैसे बहुत से व्यक्ति एक साथ जा रहे हों उनमें एक छतरी लगाए हो और अन्य बिना छतरी के हों तो कभी-कभी उन सबके लिए जरा उन छतरी वालों को बुला लेना इस प्रकार का प्रयोग होता है। इस को 'छत्रिन्याय' कहते है। इस 'छत्रिन्याय' से वाक्यान्तर्गत एक पद की पुनरुक्तता से वाक्य की पुनरुक्ति मान कर इस उक्तार्थता को वाक्यदोष कहा जा सकता है] ॥ ११ ॥

यदि [इस उक्तार्थता में कोई] विशेष [प्रयोजन] हो तो [यह 'उक्तार्थ' या 'एकार्थ'] दोष नहीं होता है।

यदि कोई विशेष [बात पुनरुक्ति से] प्रतिपाद्य हो तो गतार्थता [उक्तार्थता या पुनरुक्ति] दोष नहीं होती है ॥ १२ ॥

[जिस विशेषता के प्रदर्शन के लिए पुनरुक्ति होने पर भी उसको दोष नही माना जाता है] उस विशेष का प्रतिपादन करने के लिए [अगले सूत्रों में कुछ उदाहरण] कहते है।

'धनुर्ज्याध्वनौ' धनुष के चाप की टङ्कार [इस प्रयोग] में 'ज्या' शब्द [प्रत्यञ्चा के] चढाव की प्रतीति के लिए है।

'धनुर्ज्याध्वनौ' इस [प्रयोग] में [ज्या अर्थात् प्रत्यञ्चा धनुष के सिवाय और किसी की होती ही नहीं इसलिए ज्या पद से ही धनुःपद के गतार्थ

आरूढेः प्रतिपत्त्यै । आरोहणस्य प्रतिपत्त्यर्थम् । न हि धनुःश्रुतिमन्तरेण धनुष्यारूढा ज्या धनुर्ज्येति शक्यं प्रतिपत्तुम् । यथा—

धनुर्ज्याकिणचिन्हेन दोष्णा विस्फुरितं तव । इति ॥ १३ ॥

कर्णावतंसश्रवणकुण्डलशिर शेखरेषु कर्णादिनिर्देश. सन्निधेः । २, २, १४ ।

कर्णावतंसादिशब्देषु कर्णादीनामवतंसादिपदैरुक्तार्थानामपि निर्देशः सन्निधे. प्रतिपत्त्यर्थमिति सम्बन्ध. । न हि कर्णादिशब्दनिर्देशमन्तरेण कर्णादिसन्निहितानामवतंसादीनां शक्या प्रतिपत्तिः कर्तुमिति । यथा—

१. दोलाविलासेषु विलासिनीनां
कर्णावतंसा. कलयन्ति कम्पम् ॥

हो जाने पर भी] धनुः शब्द [का प्रयोग किया गया है ।] आरूढ़ता के बोध के लिए [प्रयुक्त किया गया] है । 'आरूढेः प्रतिपत्त्यै' का अर्थ आरूढ़ता के बोध के लिए है । धनुःपद के बिना, धनुष पर चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा धनुष की प्रत्यञ्चा है [अथवा उतरी हुई] यह नहीं समझा जा सकता है । [धनुर्ज्या शब्द के प्रयोग का उदाहरण] जैसे—

धनुष की प्रत्यञ्चा की चोट से चिन्हित तुम्हारा बाहु फड़क रहा है ।

[यहां धनुर्ज्या पद के प्रयोग से चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा का ही ग्रहण होता है अन्यथा प्रत्यञ्चा के बन्धन आदि से भी चिन्ह हो सकता है] ॥ १३ ॥

[इसी प्रकार] कर्णावतंस, श्रवणकुण्डल, शिरःशेखर आदि [प्रयोगो] में कर्ण [श्रवण, शिर] आदि [पदो] का निर्देश सामीप्य [बोधन के कारण] से है ।

कर्णावतंस आदि शब्दो में कर्णादि के अवतंस, आदि पदो से गतार्थ हो जाने पर भी [अलग] निर्देश सन्निधि [सामीप्य] के बोध के लिए [किया जाता] है, यह [सूत्र के पदो का] सम्बन्ध हुआ । कर्णादि पदो के प्रयोग के बिना कर्ण आदि में सन्निहित [पहिने हुए] अवतंस आदि का ज्ञान नहीं किया जा सकता है । [क्योकि कान के आभूषण कर्णफूल अलग भी रखे हुए हो सकते है । कर्णावतंस पद के प्रयोग से कानो में पहिने हुए रूप में ही उनका बोध होता है, अलग रखे हुओ का नहीं] जैसे—

२. लीलाचलच्छ्रवणकुण्डलमापतन्ति ।
३. आययुर्भृङ्गमुखराः शिरःशेखरशालिनः ॥ १४ ॥

मुक्ताहारशब्दे मुक्ताशब्द. शुद्धे. । २, २, १५ ।

मुक्ताहारशब्दे मुक्ताशब्दो हारशब्देनैव गतार्थः प्रयुज्यते, शुद्धेः प्रतिपत्त्यर्थमिति सम्बन्धः । शुद्धानामन्यरत्नैरमिश्रितानां हारो मुक्ताहारः । यथा—

झूला झूलने के समय सुन्दरियो के कानो के आभूषण हिल रहे हैं ।

[इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण देते हैं] लीला से हिलते हुए श्रवणकुण्डल पर [भ्रमर आदि] गिरते हैं । [अथवा लीला से हिलते कुण्डलों वाले या वाली होकर गिरते हैं या गिरती है] ।

यह उदाहरण श्रवणकुण्डल पद मे कुण्डल की श्रवण-सन्निधि कान में पहिने होने की सूचना के लिए प्रयुक्त श्रवण पद के प्रयोग समर्थन के लिए दिया है । परन्तु यहा 'लीला-चलत्' पद से ही उनका कान मे पहिना होना प्रतीत हो सकता है । इसलिए यह उदाहरण अधिक सुन्दर नहीं रहा उसकी अपेक्षा निम्न उदाहरण अच्छा रहेगा—

अस्याः कर्णावतंसेन जित सर्वं विभूषणम् ।
तथैव शोभतेऽत्यन्तमस्याः श्रवणकुण्डलम् ॥

इसके पूर्व धनुर्ज्या आदि सूत्र मे ही कर्णावतंसादि पदों का भी एकत्र ही निर्देश किया जा सकता था उस दशा मे अलग सूत्र बनाने की आवश्यकता न होती । परन्तु प्रयोजन के भेद को दिखाने के लिए इस सूत्र और इसके अगले चार सूत्रों की रचना अलग की गई है । तीसरा उदाहरण देते हैं—

भृङ्गो के गुञ्जन से युक्त [मुखरित] शिर-मौर [शेखर] वाले [लोग] आए ।

[यहा शेखर के साथ शिरः पद का प्रयोग मौर [शेखर] की शिर पर स्थिति के बोधन के लिए है] ॥ १४ ॥

मुक्ताहार [इस प्रयोग] में मुक्ता पद [का प्रयोग] शुद्धि [के बोधन के प्रयोजन] से हुआ है ।

'मुक्ताहार' इस शब्द में मुक्ता शब्द हार शब्द से ही गतार्थ होकर [भी अलग] प्रयुक्त होता है । [क्योकि मुक्ता के बने हुए हार को ही हार

तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः । ३, १, २ ।

तस्याः काव्यशोभाया अतिशयस्तदतिशयः, तस्य हेतवः । तु शब्दो व्यतिरेके । अलङ्काराश्च यमकोपमादयः । अत्र श्लोकौ—

नियम से नही अपितु कभी-कभी उपकृत करते है वे हारादि के समान अलङ्कार होते है । हार आदि अलङ्कारो की प्रायः तीन प्रकार की स्थिति देखी जाती है।

१. अलङ्कार्य स्त्री आदि में वास्तविक सौन्दर्य होने पर हारादि अलङ्कार उसके उत्कर्षाधायक होते है । २. सौन्दर्य न होने पर वह दृष्टिवैचित्र्य मात्र के हेतु होते है । इसी प्रकार काव्य में रस होने पर उपमादि अथवा अनुप्रासादि अलङ्कार उसके उत्कर्षाधायक होते है । जहा रस नही होता वहा उक्तिवैचित्र्य-मात्र रूप से प्रतीत होते है । और रस के विद्यमान होने पर भी कभी उसके उत्कर्षाधायक नही भी होते है । जैसे अत्यन्त अनिन्द्य सौन्दर्यशालिनी युवति को धारण कराए हुए ग्रामीण अलङ्कार उसके सौन्दर्य के अभिवर्धक नही होते ।

इसलि काव्यप्रकाशकार के मत मे गुण तथा अलङ्कारो के भेद का मुख्य आधार यह है कि 'गुण रस के नियत धर्म है' और 'अलङ्कार शब्द तथा अर्थ के अनियत धर्म है' ।

प्रकृत 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' के निर्माता वामन भी गुण तथा अलङ्कारो का भेद मानते है । परन्तु उनके मत में उस भेद का आधार आनन्दवर्धनाचार्य तथा मम्मटाचार्य से भिन्न कुछ और ही है ।

वामन का मत यह है कि काव्यशोभा के उत्पादक धर्मो का नाम 'गुण' है और उस शोभा के अतिशय-हेतुओ को 'अलङ्कार' कहते है । इसी आशय से 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणा ।' यह गुणो का सामान्य लक्षण करने के बाद अलङ्कारो का उनसे भेद दिखाने वाला लक्षण 'तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः' । अगले सूत्र में करते है—

उस [काव्यशोभा] के अतिशय के हेतु अलङ्कार होते है ।

उस काव्यशोभा का अतिशय तदतिशय [का अर्थ] हुआ । उसके हेतु [अलङ्कार होते है] तु शब्द [गुणो से अलङ्कारो का] भेद [प्रदर्शन] में [प्रयुक्त हुआ] है । यमक और उपमः आदि [शब्द तथा अर्थ के] अलङ्कार है । [गुण और अलङ्कारो का जो भेद हमने प्रतिपादित किया है इसके [समर्थन के] विषय में [निम्न लिखित] दो श्लोक [भी] है—

युवतेरिव रूपमङ्ग काव्यं,
स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः,
सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः ॥
यदि भवति वचश्च्युत गुणेभ्यो,
वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं,
नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते॥

[शुद्ध अर्थात् अलङ्कारो से अमिश्रित गुण ओजः प्रसाद आदि जिस में हो वह] शुद्धगुण वाला वह काव्य भी युवति के [अलङ्कारविहीन शुद्ध] रूप के समान [रसिक जनो को] अत्यन्त रुचिकर होता है। और अत्यधिक [निरन्तराभिः] अलङ्कार रचनाओ से विभूषित रूप भी अत्यन्त आह्लाददायक होता है। [युवति में सौन्दर्य रूप गुण होने पर अलङ्कार हो या न हो दोनो अवस्थाओ में रसिको को वह रूप रुचिकर होता ही है]।

[परन्तु] यदि स्त्री के [यौवन वन्ध्य जिसमें यौवन भी लावण्य को उत्पन्न न कर सकने के कारण व्यर्थ हो ऐसे] लावण्यशून्य शरीर के समान काव्य-वाणी [वचः] गुणो [ओज प्रसाद आदि] से शून्य हो तो निश्चय ही [उसके धारण किए हुए] लोकप्रिय [जनदयितानि] आभूषण भी भद्दे मालूम होने लगते है [दुर्भगत्व संश्रयन्ते]।

इन श्लोको का अभिप्राय यह हुआ कि गुणो के होने पर अलङ्कारो के विना भी काव्य की शोभा हो सकती है और गुणो के अभाव में केवल अलङ्कारो से काव्य की शोभा नही होती। इसलिए अन्वय तथा व्यतिरेक से गुण ही काव्य-शोभा के उत्पादक है और अलङ्कार उस शोभा की वृद्धि के हेतु होते है ॥ २ ॥

गुण और अलङ्कारो का मुख्य भेद ग्रन्थकार ने बता दिया, परन्तु वामन के मत में गुण तथा अलङ्कारो का इसके अतिरिक्त एक भेद और है। वह यह है कि गुण काव्य के नित्य अर्थात् अपरिहार्य धर्म है और अलङ्कार नित्य या अपरिहार्य धर्म नही है। अर्थात् गुणो के विना काव्य की शोभा नही हो सकती है। परन्तु अलङ्कारो के विना काव्य की शोभा हो सकती है। इसी बात को ग्रन्थकार अगले सूत्र में कहते है।

पूर्वे नित्याः । ३, १, ३ ।

पूर्वे गुणा नित्याः । तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः ॥ ३ ॥

एवं गुणालङ्काराणां भेदं दर्शयित्वा शब्दगुणनिरूपणार्थमाह—

ओजः-प्रसाद-श्लेष-समता-समाधि-माधुर्य-सौकुमार्य-उदारता-ऽर्थव्यक्ति-कान्तयो बन्धगुणाः । ३, १, ४, ।

बन्धः पदरचना, तस्य गुणा बन्धगुणाः ओजःप्रभृतयः ॥ ४ ॥

[उन गुण तथा अलङ्कारों में से] प्रथम [अर्थात् गुण] नित्य है।

पूर्व [अर्थात्] गुण नित्य [काव्य में अपरिहार्य] है। उन [गुणों] के विना [काव्य की] शोभा अनुपपन्न होने से ॥ ३ ॥

इस प्रकार गुण तथा अलङ्कारों के भेद का निरूपण करके शब्द-गुणों के निरूपण करने के लिए [सबसे पहिले उनका 'उद्देश' अर्थात् नाममात्रेण कथन करने के लिए अगला सूत्र] कहते हैं—

१. ओज, २. प्रसाद, ३. श्लेष, ४. समता, ५. समाधि, ६. माधुर्य, ७. सौकुमार्य, ८. उदारता, ९. अर्थव्यक्ति, और १०. कान्ति [नामक यह १०] बन्ध [अर्थात् रचना] के गुण हैं।

बन्ध अर्थात् पद-रचना उसके गुण बन्धगुण, ओज, प्रसाद आदि [१० प्रकार के बन्धगुण] होते हैं।

यहा ओज, प्रसाद, आदि को 'बन्ध' का गुण कहा है। 'बन्ध' का अर्थ पद-रचना है। अर्थात् ओज-प्रसाद आदि पद-रचना के गुण हैं। इस 'पद-रचना' के लिए 'सङ्घटना' शब्द का प्रयोग भी, साहित्यग्रन्थो मे हुआ है। ध्वन्यालोककार ने इस अर्थ में मुख्य रूप से 'सङ्घटना' शब्द का ही प्रयोग किया है। उन्होने 'सङ्घटना' तथा 'गुणो' के सम्बन्ध का विवेचन बहुत विस्तार के साथ किया है। इनके सम्बन्ध का निरूपण करते हुए भी उन्होने 'अभेदवादी' तथा 'भेदवादी' दो पक्ष दिखलाए है। 'अभेदवादी' पक्ष में उन्होने वामन के मत को रखा है। वामन पद-रचना को 'बन्ध' कहते हैं। और विशेष प्रकार की पद-रचना के लिए 'रीति' शब्द का पयोग करते हैं। प्रथम अधिकरण में 'विशिष्टपद-रचना रीति.' यह रीति का लक्षण कर चुके हैं। 'पद-रचना की वह विशिष्टता क्या है इसका प्रतिपादन करते हुए अगले ही सूत्र में 'विशेषो गुणात्मा' लिख कर गुणरूपता—गुणात्मकता को ही पद-रचना का वैशिष्ट्य या

तान् क्रमेण दर्शयितुमाह—

गाढबन्धत्वमोजः । ३, १, ५ ।

बन्धस्य गाढत्वं यत् तदोजः । यथा—

'रीति' कहा है । इसलिए वामन के मत में पद-रचना या रीतियो को गुणात्मक माना गया है । इसका अर्थ यह हुआ कि 'गुण' और 'रीति' अलग-अलग नही है । इसीलिए आनन्दवर्धनाचार्य ने वामन के मत को 'गुण' तथा 'सङ्घटना' का 'अभेदवादी' मत कहा है ।

इस 'अभेदवादी' पक्ष के विपरीत दूसरा 'भेदवादी' पक्ष है जो 'सङ्घटना' तथा गुण दोनो को अलग-अलग भिन्न-भिन्न मानता है । इस 'भेदवादी' पक्ष में गुणो के 'सङ्घटना' के साथ सम्बन्ध के विषय में दो प्रकार के मत पाए जाते है । एक मत में 'गुण' 'सङ्घटना' के आश्रित रहते है । और दूसरे मत में 'सङ्घटना' गुणो के आश्रित रहती है । इन दोनो मतो को आनन्दवर्धन ने 'सङ्घटनाश्रया गुणा' और 'गुणाश्रया वा सङ्घटना' इस रूप में प्रस्तुत किया है। इनमें से 'सङ्घटनाश्रया गुणा' अर्थात् गुण, 'सङ्घटना' के आश्रित रहते है । यह पक्ष 'भट्टोद्भट' आदि का है । उन्होने गुणो को सङ्घटना का धर्म माना है । धर्म सदा धर्मी के आश्रित रहता है । इसलिए 'गुण', 'सङ्घटना' के आश्रित रहते है । अर्थात् 'गुण' आधेय और 'सङ्घटना' आधार रूप है । इस प्रकार गुण और सङ्घटना का भेद है ।

तीसरा पक्ष 'गुणाश्रया सङ्घटना' है अर्थात् सङ्घटना गुणो के आश्रित रहती है । यह आनन्दवर्धनाचार्य का अभिमत पक्ष है । इस प्रकार तीन प्रकार के विकल्प ध्वन्यालोककार ने दिखलाए है । ध्वन्यालोककार स्वयं 'रीति सम्प्रदाय' के मानने वाले नही है । वह 'रीति' को नही अपितु ध्वनि को काव्य का आत्मा मानते है और 'ध्वनि सम्प्रदाय' के प्रवर्तक है । फिर भी उन्होने 'सङ्घटना' नाम से रीतियो का निर्देश कर गुणो के साथ उनका सम्बन्ध दिखाने का प्रयत्न किया है । और तीनो का समन्वय करने का भी यत्न किया है ॥ ४ ॥

क्रम से उन [दसो गुणो के लक्षणादि] को दिखाने के लिए कहते है ।

रचना की गाढ़ता [गाढ़ बन्धत्व] ओज [गुण कहलाता] है ।

बन्ध [अर्थात् रचना] का जो गाढत्व है वह ओज [गुण कहलाता] है । [गाढत्व का अभिप्राय अवयवो अथवा अक्षरविन्यास का परस्पर संश्लिष्टत्व

विलुलितमकरन्दा मञ्जरीर्नर्तयन्ति ।

न पुनः,

विलुलितमधुधारा मञ्जरीर्लोलयन्ति ॥ ५ ॥

शैथिल्य प्रसादः । ३, १, ६ ।

बन्धस्य शैथिल्यं शिथिलत्वं प्रसादः ॥ ६ ॥

नन्वयमोजो विपर्ययात्मा दोषस्तत् कथं गुण इत्याह—

है । सयुक्त अक्षरो और रेफशिरस्क वर्गों के प्रथम-द्वितीय, अथवा प्रथम-तृतीय अथवा तृतीय-चतुर्थ वर्णों के सयोग होने पर बन्ध की गाढ़ता अथवा ओज गुण माना जाता है] जैसे—

मकरन्द को कम्पित करते हुए [भौरे आम्र आदि की] मञ्जरियो को नचाते है ।

[यहा 'मकरन्द' और 'मञ्जरीर्नर्तयन्ति' में बन्ध की गाढ़ता होने से ओज गुण माना है] ।

परन्तु यहां [नीचे के उदाहरण में, ओज गुण] नही है—

मधुधारा को कम्पित करते हुए मञ्जरियो को हिलाते है ।

[यहां 'मकरन्द' के स्थान पर 'मधुधारा' 'मञ्जरीर्नर्तयन्ति' की जगह 'मञ्जरीर्लोलयन्ति' कर देने से बन्ध की गाढता समाप्त होकर शैथिल्य आजाता है । इसलिए इस परिवर्त्तन के कर देने पर रचना में ओज नहीं रहता है । अतः यह प्रत्युदाहरण दिया है] ॥ ५ ॥

अगले सूत्र मे दूसरे गुण 'प्रसाद' का लक्षण करते है—

[रचना के] शैथिल्य [का नाम] प्रसाद [गुण] है ।

बन्ध [रचना] के शैथिल्य अर्थात् शिथिलत्व [का नाम] प्रसाद है ॥ ६ ॥

यहा प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि 'प्रसाद' को गुण कैसे माना गया है क्योकि 'बन्धगाढत्व रूप' 'ओज' के अभाव का नाम बन्ध-शैथिल्य या 'प्रसाद' होता है । अर्थात् बन्धगाढत्व रूप ओज का विरोधी होने से 'बन्ध-शैथिल्य' रूप 'प्रसाद' को काव्य का दोष मानना चाहिए, उसको गुण कैसे कहते है ? इसका उत्तर देने के लिए ग्रन्थकार अगले चार सूत्रो का प्रकरण प्रारम्भ करते है ।

[प्रश्न] यह 'ओज' का विपर्यय रूप [शैथिल्य तो काव्य का] दोष है वह गुण कैसे हो सकता है । इस [प्रश्न] का उत्तर देने के लिए कहते है—

गुणः सम्प्लवात् । ३, १, ७ ।

गुणः प्रसादः । ओजसा सह सम्प्लवात् ॥ ७ ॥

न शुद्धः । ३, १, ८ ।

शुद्धस्तु दोष एवेति ॥ ८ ॥

ननु विरुद्धयोरोजःप्रसादयोः कथं सम्प्लव इत्याह—

स त्वनुभवसिद्धः । ३, १, ९ ।

स तु सम्प्लवस्त्वनुभवसिद्धः । तद्विदां रत्नादिविशेषवत् । अत्र श्लोकः—

[रचना शैथिल्य रूप] 'प्रसाद' गुण है [ओज के साथ] मिश्रित होने से ।

'प्रसाद' गुण [ही] है । ओज के साथ मिश्रण [सम्प्लव] होने से । [अर्थात जहां 'ओज' और 'प्रसाद' दोनो मिले जुले रहते है वहाँ 'प्रसाद' गुण होता है । और जहां ओज से सर्वथा रहित एक दम बन्ध-शैथिल्य होता है वह शुद्ध शैथिल्य गुण नहीं है । यही बात अगले सूत्र में कहते है] ॥ ७ ॥

शुद्ध [ओज से विहीन केवल बन्ध-शैथिल्य रूप प्रसाद] तो गुण नहीं [अपितु दोष ही] है ।

[बन्धगाढ़त्व रूप ओज से सर्वथा विहीन] शुद्ध [बन्ध-शैथिल्य] तो दोष ही है । [उसे हम गुण नहीं कहते है] ॥ ८ ॥

[इस पर फिर प्रश्न उत्पन्न होता है कि] विरुद्ध स्वभाव वाले ओज और प्रसाद का सम्प्लव [अर्थात् मिश्रण] कैसे हो सकता है ? इस [शङ्का] का समाधान करने] के लिए कहते है—

वह [बन्धगाढ़ता रूप ओज तथा बन्ध-शैथिल्य रूप प्रसाद का सम्प्लव अर्थात् मिश्रण] तो [सहृदय विद्वानों के] अनुभव [से] सिद्ध है ।

वह [गाढ़बन्ध रूप ओज तथा बन्धशैथिल्य रूप प्रसाद का] सम्प्लव [मिश्रण] तो उसको समझ सकने वालो [सहृदय विद्वानो] को उसी प्रकार अनुभवसिद्ध है जिस प्रकार रत्नो की विशेषता [रत्नो को पहिचानने वाले कुशल] जौहरियों को [अनुभव सिद्ध होती है ।] इस विषय में [निम्नलिखित] श्लोक भी है—

पृथक्पदत्वं माधुर्यम् । ३, १, २१ ।

बन्धस्य पृथक्पदत्वं यत् तन्माधुर्यम् । पृथक् पदानि यस्य सः पृथक्पदः, तस्य भावः पृथक्पदत्वम् । समासदैर्घ्यनिवृत्तिपरं चैतत् । पूर्वोक्तमुदाहरणम् । विपर्ययस्तु यथा—

चलितशबरसेनादत्तगोभृङ्गचण्ड—
ध्वनिचकितवराहव्याकुला विन्ध्यपादाः ॥ २१ ॥

सकता है । उसे आप काव्य-गुणो में क्यों गिना रहे है । इसका खण्डन करने के लिए वृत्तिकार कहते है कि उस आरोह या अवरोह को] पाठ का धर्म नहीं कहा जा सकता है यह बात [हम इस अध्याय के अन्तिम सूत्र] 'न पाठधर्माः सर्वत्रादृष्टेः' इस सूत्र में कहेंगे ।

यहा समाधि गुण को अलग सिद्ध करने का बहुत प्रयास ग्रन्थकार ने किया है परन्तु वह पूर्णतया सफल नही हुआ है । इसी लिए अन्य लोग इसको अलग गुण नही मानते है ॥ २० ॥

'माधुर्य' रूप चतुर्थ गुण के निरूपण के लिए ग्रन्थकार अगला सूत्र लिखते है—

[रचना के] पदो की पृथक्ता [अर्थात् समासरहित पदों के प्रयोग] को माधुर्य [गुण] कहते है ।

बन्ध [अर्थात् रचना] का जो पृथक्पदत्व है वह माधुर्य कहलाता है । जिसके पद पृथक् [अलग-अलग असमस्त] हो वह [बन्ध] पृथक्पदः [बन्धः] हुआ और उसका भाव पृथक्पदत्व [कहलाता] है । यह समास की दीर्घता का निषेध करने वाला है । [इस माधुर्य गुण का] पूर्वोक्त ['अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' आदि श्लोक ही] उदाहरण है । [उसका विपर्यय] प्रत्युदाहरण जैसे [निम्न लिखित वाक्य]—

चलती हुई शबरसेना के बजाए हुए तुरही [गोभृङ्ग नामक वाद्य] की भयकर ध्वनि से चकित वराहो से व्याप्त [व्याकुल] विन्ध्याचल की तलहटी है ।

यहा 'चलित' से लेकर 'व्याकुला' तक एक लम्बा समस्त पद विशेषण रूप में दिया हुआ है । इसलिए यहा पृथक्पदत्व रूप 'माधुर्य' गुण नही है । इसलि यह प्रत्युदाहरण हुआ ॥ २१ ॥

अजरठत्वं सौकुमार्यम् । ३, १, २२ ।

बन्धस्याजरठत्वमपारुष्यं यत तत् सौकुमार्यम् । पूर्वोक्तमुदाहरणम् । विपर्ययस्तु यथा—

निदानं निर्द्वैतं प्रियजनसदृक्त्वव्यवसितिः ।
सुधासेकप्लोषौ फलमपि विरुद्धं मम हृदि ॥ २२ ॥

विकटत्वमुदारता । ३, १, २३ ।

बन्धस्य विकटत्वं यदसावुदारता । यस्मिन् सति नृत्यन्तीव पदा-

सप्तम गुण 'सौकुमार्य' का निरूपण करने के लिए अगला सूत्र लिखते हैं—

[बन्ध की] अकठोरता सौकुमार्य [कहलाती] है ।

बन्ध [रचना शैली] का अजरठत्व [अर्थात्] अपारुष्य [कठोरता का अभाव] जो है वह 'सौकुमार्य' [गुण कहलाता] है । [इसका भी] पूर्वोक्त ['अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' आदि श्लोक ही] उदाहरण है । [उसका विपर्यय] प्रत्युदाहरण तो जैसे [निम्न श्लोक है]—

[वियोगावस्था में] प्रिय जन [प्रियतमा या प्रियतम-आदि के मुख, नेत्र, केश आदि] के सादृश्य की [चन्द्रमा, कमल, मयूरपिच्छ आदि में] स्थिति ही निश्चित [निर्द्वैतं असन्दिग्ध] रूप से [उसकी स्मृति और वियोग के उद्दीपन का निदानम्] कारण है । और [उसकी स्मृति से] सुधा सिञ्चन [तथा वियोग से हृदय का प्लोष अर्थात्] और दाह रूप विरुद्ध [दो प्रकार के] फल भी मेरे हृदय में उत्पन्न होते हैं । [अर्थात् चन्द्रमा कमल आदि को देख कर सादृश्यवश प्रियतमा के मुख आदि की स्मृति हो आती है उससे हृदय में आनन्द का सञ्चार होता है । परन्तु उसके साथ ही उसका वियोग हृदय को और अधिक जलाने लगता है] ।

इस पद्य की रचना में 'सौकुमार्य' नहीं अपितु 'पारुष्य' है । अतएव यह 'सौकुमार्य' गुण का उदाहरण नहीं अपितु प्रत्युदाहरण है ॥ २२ ॥

आठवें 'उदारता' नामक गुण का लक्षण अगले सूत्र में करते हैं—

[रचना शैली की] 'विकटता', 'उदारता' [कहलाती] है ।

रचनाशैली [बन्ध] की जो 'विकटता' है वह 'उदारता' [कहलाती]

नीति जनस्य वर्णभावना भवति तद्विकटत्वम्। लीलायमानत्वमित्यर्थः। यथा—

स्वचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां
झणिति रणितमासीत् तत्र चित्रं कलञ्च ॥

न पुनः—

चरणकमललग्नैर्नूपुरैर्नर्तकीनां
झटिति रणितमासीन्मञ्जु चित्रञ्च तत्र ॥ २३ ॥

अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः। ३, १, २४।

है। जिसके होने पर [रचना के] पद नाच से रहे हैं इस प्रकार की वर्णों के विषय में [श्रोता] लोगो की भावना होती है वह 'विकटत्व' [कहलाता] है। [अर्थात् वर्णों का नृत्य के समान] लीलायमानत्व [ही विकटत्व अथवा उदारता है] यह अर्थ हुआ। [उसका उदाहरण] जैसे—

वहाँ नर्तकियो के अपने पैरो में पहिने हुए नूपुरो का विचित्र और सुन्दर शब्द होने लगा।

इस श्लोक के पढते समय उसके पद नाचते हुए से प्रतीत होते है। नाचने में जैसे जैसे उतार-चढाव की विशेष प्रकार की गति होती है इसी प्रकार यहाँ 'झटिति रणितमासीत् तत्र चित्र कलञ्च' आदि पदो को पढते समय विशेष प्रकार की गति प्रतीत होती है। इस लिए यह 'विकटत्व' अथवा 'उदारता' का उदाहरण है।

[परन्तु यदि इस श्लोक के पदो में परिवर्तन नीचे लिखे प्रकार से कर दिया जाय तो] फिर [वह गुण] नहीं रहेगा। [जैसे]—

नर्तकियो के चरण कमलो में पहिने हुए [लग्न] नूपुरो ने वहाँ विचित्र और सुन्दर शब्द किया।

श्लोक के इन दोनो चरणो के ऊपर दिए हुए दोनो पाठो को पढते समय उनके उच्चारण में स्पष्ट रूप से अन्तर प्रतीत होता है। उससे ही पदो के 'विकटत्व' अथवा 'उदारता' गुण का स्वरूप निर्णय हो जाता है ॥२३॥

अगले सूत्र में 'अर्थव्यक्ति' रूप नवम गुण का निरूपण करते है—

अर्थ की [स्पष्ट और तुरन्त] प्रतीति का हेतुभूत [शब्द गुण] अर्थव्यक्ति' [नाम से कहा जाता] है।

यत्र झटित्यर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वं स गुणोऽर्थव्यक्तिरिति । पूर्वोक्तमुदाहरणम् । प्रत्युदाहरणन्तु भूयः सुलभञ्च ॥ २४ ॥

औज्ज्वल्यं कान्तिः । ३, १, २५ ।

बन्धस्योज्ज्वलत्वं नाम यदसौ कान्तिरिति । यदभावे पुराणच्छायेत्युच्यते । यथा—

कुरङ्गीनेत्रालीस्तबकितवनालीपरिसरः ।

जहाँ [जिन शब्दों में] तुरन्त [और विस्पष्ट रूप से] अर्थ की प्रतीति कराने की [हेतुत्व] क्षमता होती है वह 'अर्थव्यक्ति' [नामक] गुण होता है । [इस अर्थव्यक्ति गुण का भी] पूर्वोक्त ['अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' इत्यादि श्लोक ही] उदाहरण है । [उसके विपरीत] प्रत्युदाहरण बहुत [हो सकते हैं] और सुलभ है । [इसलिए हम यहां उसका प्रत्युदाहरण अपने वृत्तिग्रन्थ में नहीं दे रहे हैं] ।

वास्तव में इस 'अर्थव्यक्ति' गुण के अभाव में १. असाधुत्व, २. अप्रतीतत्व, ३ अनर्थकत्व, ४. अन्यार्थत्व, ५. नेयार्थत्व, ६. यतिभ्रष्टत्व, ७. क्लिष्टत्व, ८ सन्दिग्धत्व और ९. अप्रयुक्तत्व आदि दोष हो जाते हैं । उन दोषो के निरूपण में जो उदाहरण दिए हैं वह सब इस 'अर्थव्यक्ति' के प्रत्युदाहरण हो सकते हैं । इस लिए उसके प्रत्युदाहरणो को अलग दिखलाने की आवश्यकता नही है । यह मान कर वृत्तिकार ने अलग प्रत्युदाहरण नही दिखाया है ॥२४॥

'कान्ति' नामक दशम गुण का लक्षण अगले सूत्र मे करते है ।

[रचना शैली की] उज्ज्वलता [नवीनता का नाम] कान्ति [गुण] है ।

बन्ध की जो उज्ज्वलता [नवीनता] है वह ही कान्ति [नामक गुण] है । जिस [कान्ति] के अभाव में [यह श्लोक या काव्य] पुरानी नक़ल [छाया] है यह कहा जाता है । [इस कान्ति नामक गुण का उदाहरण] जैसे—

मृगियो के नेत्रों की पंक्ति से वनश्रेणी का किनारा [पुष्पों के] गुच्छों से युक्त सा [प्रतीत हो रहा] है ।

यहाँ 'कुरङ्गीनेत्राली' से 'वनालीपरिसरः' अर्थात् वन प्रान्त को, हरिणियो के नेत्रो-से फूलो के गुच्छो से भरा सा 'स्तबकित' सा कह कर जो वर्णन

विपर्ययस्तु भूयान् सुलभश्च ।

श्लोकाश्चात्र भवन्ति—

पदन्यासस्य गाढत्वं वदन्त्योजः कवीश्वराः ।
अनेनाधिष्ठिताः प्रायः शब्दाः श्रोत्ररसायनम् ॥ १ ॥

शैथिल्यमोजसा मिश्रं प्रसादश्च प्रचक्षते ।
अनेन न विना सत्यं स्वदते काव्यपद्धतिः ॥ २ ॥

यत्रैकपदवद्भावं पदानां भूयसामपि ।
अनालक्षितसन्धीनां स श्लेषः परमो गुणः ॥ ३ ॥

प्रतिपादं प्रतिश्लोकमेकमार्गपरिग्रहः ।
दुर्बन्धो दुर्विभावश्च समतेति गुणो मतः ॥ ४ ॥

किया है, वह कवि की अपनी नई कल्पना या नई सूझ है । यही उसका 'औज्ज्वल्य' गुण है । जहाँ कवि की कल्पना में कोई नूतनता नही रहती वहाँ लीकपिटाई सी प्रतीति होती है और कोई चारुता नही रहती ।

[इस औज्ज्वल्य के विपर्यय रूप] प्रत्युदाहरण बहुत और सुलभ है । [अतः उनको दिखलाने की आवश्यकता यहाँ नहीं है ।]

[इस प्रकार ग्रन्थकार ने सूत्र और वृत्ति द्वारा दस प्रकार के शब्द गुणो का प्रतिपादन कर दिया । अब उन्हीं दस गुणों को श्लोकों द्वारा दिखलाने के लिए कुछ संग्रह श्लोक स्वयं लिखते है] इस [अर्थात् शब्द गुणो के स्वरूप निरूपण] के विषय में [निम्नलिखित ११] श्लोक भी है । [इन ११ श्लोको में क्रमशः उन्हीं दस 'शब्द-गुणो' का निरूपण किया गया है । जो इस प्रकार है]—

१. पद रचना की गाढ़ता को कवीश्वर लोग 'ओज' [नामक गुण] कहते है । इस [ओज गुण] से युक्त पद प्रायः [स्फूर्ति पैदा करने वाले] कानो के लिए रसायन के समान [स्फूर्तिदायक] होते है ।

२. ओज से मिश्रित [रचना के] शैथिल्य को 'प्रसाद' [गुण नाम से] कहते है । इस [प्रसाद गुण] के बिना वस्तुतः काव्य रचना का आनन्द ही नहीं आता है ।

३. जहाँ सन्धि के दिखाई न देने पर भी बहुत से पदो में एकपद के समान प्रतीति हो वह 'श्लेष' [नामक] परम गुण है ।

४. [श्लोक के] प्रत्येक पाद में और प्रत्येक श्लोक में एक-से मार्ग

रतिविगलितबन्धे केशपाशे सुकेश्याः ।
इत्यत्र सुकेश्या इत्यस्य च साभिप्रायत्वं व्याख्यातम्[1] ॥ २ ॥

अर्थवैमल्य प्रसादः । ३, २, ३ ।

अर्थस्य वैमल्यं प्रयोजकमात्रपरिग्रहः प्रसादः । यथा—

सवर्णा कन्यका रूपयौवनारम्भशालिनी ।

विपर्ययस्तु—

उपास्तां हस्तो मे विमलमणिकाञ्चीपदमिदम् ।

काञ्चीपदमित्यनेनैव नितम्बस्य लक्षितत्वात् विशेषणस्याप्रयोजकत्वमिति ॥ ३ ॥

इस [पूर्वोक्त उदाहरण] से—

'सुकेशी के रतिकाल में खुले हुए केशपाश में'

इत्यादि [उदाहरण] में 'सुकेश्या' इस [पद] के 'साभिप्रायत्व' की व्याख्या समझ लेनी चाहिए ॥ २ ॥

दूसरे अर्थगुण 'प्रसाद' का लक्षण अगले सूत्र में करते हैं—

अर्थ का नैर्मल्य [अर्थात् स्पष्टता] 'प्रसाद' [गुण कहलाता] है ।

अर्थ का नैर्मल्य विवक्षित अर्थ के समर्पक-[प्रयोजक] पद का प्रयोग 'प्रसाद' [नामक अर्थगुण] है । जैसे—

रूप और नवयौवन के आरम्भ से युक्त यह सवर्णा कन्या है । [यह अपने ही क्षत्रिय आदि वर्ण की होने से समान वर्ण वाली अथवा सुन्दर इस अर्थ का बोधक 'सवर्णा' पद कन्या की उपादेयता अर्थात् विवाहयोग्यता का सूचक है] ।

इसका विपर्यय [अभाव होने पर 'अपुष्टार्थत्व' और 'अनर्थकत्व' दोष हो जाते हैं । उनमें से 'अपुष्टार्थत्व' का उदाहरण देते हैं] जैसे—

मेरा हाथ विमल मणियों की तगड़ी के इस स्थान को स्पर्श करे ।

इसमें 'काञ्ची पद' इस [कथन] से ही नितम्ब का लक्षणा से बोध हो जाने से [काञ्ची के साथ दिए हुए विमलमणि] विशेषण अप्रयोजक [अविवक्षित अतएव अपुष्टार्थ] है । [अतः इस प्रत्युदाहरण में 'प्रसाद' गुण नहीं है] ॥ ३ ॥

तृतीय अर्थगुण श्लेष का निरूपण अगले सूत्र में करते हैं—

घटना श्लेष. । ३, २, ४ ।

क्रमकौटिल्यानुल्वणत्वोपपत्तियोगो घटना । स श्लेषः । यथा—

दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलका धूर्तोऽपरां चुम्बति ॥
शूद्रकादिरचितेषु प्रबन्धेष्वस्य भूयान् प्रपञ्चो दृश्यते ॥ ४ ॥

['क्रम', 'कौटिल्य', 'अनुल्वणत्व' और 'उपपत्ति' के योग को 'घटना' कहते हैं ।] यह घटना 'श्लेष' [कहलाती] है ।

क्रम, कौटिल्य, अनुल्वणत्व और उपपत्ति का योग [ही यहां] घटना [कहलाती] है । वह [विशेष प्रकार से श्लिष्ट होने से] 'श्लेष' है । जैसे—

दोनो [अपनी] प्रियतमाओ [इन दोनो में से एक नायक की स्वकीया नायिका है और दूसरी सखी है जिसके प्रति नायक का प्रच्छन्न अनुराग है । अन्यथा यदि दोनो सपत्नी हो तो उनकी एकासनसंस्थिति सुसङ्गत नहीं होगी ।] को एक [ही] आसन पर इकट्ठी [बैठी] देखकर 'धूर्त' [नायक चुपके से] पीछे से आकर आदर से एक [अपनी स्वकीया पत्नी] की [दोनो] आँखें बन्द कर [आंखमिचौनी के] खेल का बहाना करता हुआ तनिक सी [अधिक नहीं अधिक गर्दन झुकाने से तो सन्देह हो जाता] गर्दन मोडकर प्रेम से आनन्दित मन वाली और [अन्तर्हास] मुस्कराहट से सुशोभित कपोलो वाली [प्रच्छन्न अनुरागा] दूसरी [प्रियतमा] को चुम्बन करता है ।

इसमें 'क्रम' शब्द का अर्थ अनेक क्रियाओ की परम्परा है । जैसे यहा 'दृष्ट्वा, पश्चादुपेत्य, नयने पिधाय, विहितक्रीडानुबन्धच्छल, वक्रितकन्धर, चुम्बति' आदि क्रियाओ की परम्परा पाई जाती है । इसी को 'क्रम' कहते है । और इस सबके भीतर अनुस्यूत विदग्ध-चेष्टित को 'कौटिल्य' कहते है । अप्रसिद्ध वर्णन के विरह अर्थात् प्रसिद्ध वर्णन शैली को 'अनुल्वणत्व' कहते है । और युक्तिविन्यास का नाम 'उपपत्ति' है । इन सबका योग जिसमें हो उस रचना में अर्थगुण 'श्लेष' होता है । इस उदाहरण रूप श्लोक में दर्शनादि क्रियाओ का क्रम, उभयसमर्थनरूप 'कौटिल्य', लोकसव्यवहार रूप 'अनुल्वणत्व', और 'एकत्रासनसंस्थिते, पश्चादुपेत्य, नयने पिधाय, वक्रितकन्धरः' इत्यादि उपपादक युक्ति रूप 'उपपत्ति' का योग होने से यह 'श्लेष' रूप अर्थगुण का उदाहरण होता है ।

अवैषम्य समता । ३, २, ५ ।

अवैषम्यं प्रक्रमाभेदः समता । क्वचित् क्रमोऽपि भिद्यते । यथा—

च्युतसुमनसः कुन्दाः पुष्पोद्गमेष्वलसा द्रुमाः
मलयमरुतः सर्पन्तीमे वियुक्तधृतिच्छिदः ।
अथ च सवितुः शीतोल्लासं लुनन्ति मरीचयो
न च जरठतामालम्बन्ते क्लमोदयदायिनीम् ॥

ऋतुसन्धिप्रतिपादनपरे द्वितीये पादे क्रमभेदो, मलयमरुतामसाधारणत्वात् । एवं द्वितीयः पादः पठितव्यः—

शूद्रक आदि रचित [मृच्छकटिक आदि] प्रबन्धों [नाटकों अथवा काव्यों] में इस [प्रकार के श्लेष] का बहुत विस्तार पाया जाता है ॥ ४ ॥

चतुर्थ अर्थगुण 'समता' का अगले सूत्र में निरूपण करते हैं—

अवैषम्य [अर्थात् १. प्रक्रम के अभेद और २. सुगमत्व का नाम] 'समता' है ।

अवैषम्य अर्थात् प्रक्रम का अभेद 'समता' [नामक अर्थगुण] है ।

इस 'प्रक्रमाभेद' रूप 'समता' को समझने के पहिले उसके विरोधी 'प्रक्रम-भेद' को समझना आवश्यक है । इसलिए पहिले 'प्रक्रमाभेद' रूप 'समता' का उदाहरण देने के बजाय उसके विरोधी 'प्रक्रम-भेद' का उदाहरण अथवा 'समता' के प्रत्युदाहरण की अवतारणा करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं ।

कहीं क्रम का भेद भी होता है । जैसे [निम्न श्लोक में 'प्रक्रम-भेद' पाया जाता है ।]—

[इस श्लोक में कवि शिशिर और वसन्त की 'ऋतुसन्धि' का वर्णन कर रहा है । शिशिर ऋतु में खिलने वाले] कुन्द [शिशिर के समाप्तप्राय होने से] फूलों से रहित हो गए हैं, और [वसन्त में खिलने वाले] वृक्षों में [ऋतुसन्धि के कारण अभी] फूल निकल नहीं रहे हैं । [अभी उनका खिलना प्रारम्भ नहीं हुआ है] वियोगियों के धैर्य को नाश करने वाला मलय पवन चल रहा है । और सूर्य की किरणें सर्दी के वेग को नष्ट करने लगी हैं । परन्तु पसीना लाने वाली तीव्रता को [अभी] प्राप्त नहीं हुई हैं ।

ऋतु सन्धि [शिशिर और वसन्त की सन्धि] का प्रतिपादन करने वाले इस [श्लोक] में द्वितीय पाद में [वर्णित] मलय पवन के [वसन्त ऋतु का] विशेष [धर्म] होने से [उसका स्पष्ट वर्णन ऋतु सन्धि के विपरीत होने से]

मनसि च गिरं बध्नन्तीमे किरन्ति न कोकिलाः । इति ॥ ५ ॥

सुगमत्व वाऽवैषम्यमिति । ३, २, ६ ।

सुखेन गम्यते ज्ञायत इत्यर्थः । यथा—
'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' इत्यादि ।

यथा वा—

का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटलावण्या ।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ।

प्रत्युदाहरणं सुलभम् ॥ ६ ॥

प्रक्रम-भेद [रूप दोष] है। [अतएव यहां 'प्रक्रमाभेद' रूप 'समता' अर्थगुण के न होने से यह 'समता' गुण का प्रत्युदाहरण है। इसको 'समता' गुण का उदाहरण बनाने के लिए] द्वितीय चरण को इस प्रकार पढ़ना चाहिए—

यह कोकिल मन में बोलना चाहते है परन्तु [ऋतु सन्धि के कारण] अभी बाहर व्यक्त रूप से बोल नहीं रहे है ॥ ५ ॥

इस 'समता' गुण के लक्षण में जो 'अवैषम्य' पद का प्रयोग किया है उसकी दूसरी प्रकार की व्याख्या अगले सूत्र मे करते है ।

अथवा सुगमता [को] अवैषम्य [कहते] है ।

[जो] सरलता से समझ में आ जावे [वह सुगम या अविषम कहलाता है] यह अभिप्राय है । जैसे—

'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' इत्यादि ।

अथवा जैसे—

[वृक्ष के सूखे हुए] पीले पत्तो के बीच [नवीन कोमल] किसलय के समान [इन रूखे-सूखे] तपस्वियो के बीच घूंघट वाली [अतएव] जिसका सौन्दर्य स्पष्ट दिखाई नहीं देता ऐसी यह [शकुन्तला] कौन है ?

प्रत्युदाहरण [अर्थात् सुगमता रूप 'समता' के प्रत्युदाहरण रूप कठिन दुर्ज्ञेय श्लोक] सुलभ है । [पाठक उन्हें स्वय समझ सकते है । इसलिए यहां नहीं दिखलाए है] ।

कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक के पञ्चम अङ्क में कण्व की आज्ञा से जब 'शारगरव' और 'शारद्वत' शकुन्तला को लेकर राजा दुष्यन्त के यहा राजसभा में उपस्थित होते है । उस समय अवगुण्ठनवती अर्थात् घूंघट काढे हुए शकुन्तला को उन तपस्वियो के साथ देखकर राजा दुष्यन्त की यह उक्ति

अर्थदृष्टिः समाधि. । ३, २, ७ ।

अर्थस्य दर्शनं दृष्टिः । समाधिकारणत्वात् समाधिः । अवहितं हि चित्तमर्थान् पश्यतीत्युक्तं पुरस्तात् ॥ ७ ॥

अर्थो द्विविधोऽयोनिरन्यच्छायायोनिर्वा । ३, २, ८ ।

यस्यार्थस्य दर्शनं समाधिः सोऽर्थो द्विविधः । अयोनिरन्यच्छायायोनिर्वेति । अयोनिरकारणः । अवधानमात्रकारण इत्यर्थः । अन्यस्य काव्यस्य छायाऽन्यच्छाया तद्योनिर्वा । तद्यथा—

सुगमता से समझ में आजाने के कारण 'समता' गुण का सुन्दर उदाहरण है।

समझ में साफ़ आ जावे फ़साहत इसको कहते हैं ।
अगर हो सुनने वालो पर बलाग़त इसको कहते हैं ॥ ६ ॥

पञ्चम अर्थगुण समाधि' का निरूपण अगले सूत्र में करते हैं—

अर्थ [विषयक] दृष्टि [विशेष] 'समाधि' [अर्थगुण] है ।

अर्थ का दर्शन दृष्टि [शब्द से अभिप्रेत] है [उसके] समाधिमूलक [समाधिः कारणं यस्य अर्थात् समाधि अथवा अवधान जिसका कारण है । इस प्रकार का बहुव्रीहि समास] होने से [कार्य कारण का अभेद मान कर समाधि अथवा अवधानमूलक अर्थदृष्टि को] 'समाधि' [कह दिया] है । एकाग्र [समाहित अवहित] चित्त ही अर्थों को [भली प्रकार] देख सकता है [इसलिए अर्थदृष्टि अवधान अथवा समाधिमूलक है इससे कार्य-कारण का अभेद मान कर उसी को 'समाधि' कह दिया है] यह बात पहले कह चुके हैं ॥ ७ ॥

[जिस अर्थ का दर्शन 'समाधि' कहलाता है वह] अर्थ 'अयोनि' अथवा 'अन्यच्छायायोनि' [भेद से] दो प्रकार का होता है ।

जिस अर्थ का दर्शन [ज्ञान] 'समाधि' [नामक अर्थगुण कहा जाता] है वह अर्थ दो प्रकार का होता है । [एक] अयोनि और [दूसरा] 'अन्यच्छायायोनि' । 'अयोनि' अर्थात् अकारण अर्थात् अवधानमात्रनिमित्तक [अर्थात् कवि किसी दूसरे कवि के वर्णन से स्फूर्ति पा कर नहीं, अपितु स्वय जिस अर्थ का वर्णन करता है वह 'अयोनि' कहलाता है । इसके विपरीत] दूसरे [कवि] के काव्य की छाया अन्यच्छाया [पद से अभिप्रेत] है । वह [दूसरे के काव्य की छाया] जिस का योनि [कारण] है वह 'अन्यच्छायायोनि' [दूसरा भेद] है ।

आश्वपेहि मम शीधुभाजनाद् यावदभ्रदशनैर्न दश्यसे ।
चन्द्र मद्दशनमण्डलाङ्कितः खं न यास्यसि हि रोहिणीभयात् ॥

मा भैः शशाङ्क मम शीधुनि नास्ति राहुः
खे रोहिणी वसति कातर किं बिभेषि ।
प्रायो विदग्धवनितानवसङ्गमेषु
पुंसां मनः प्रचलतीति किमत्र चित्रम् ॥
पूर्वस्य श्लोकस्यार्थोऽयोनिः ।
द्वितीयस्य च छायायोनिरिति ॥ ८ ॥

जैसे [आगे दिए हुए दो उदाहरणो में से पहिला श्लोक कवि की नूतन कल्पना होने से पहले अर्थात् अयोनि भेद का उदाहरण है और उसके आधार पर लिखा गया दूसरा श्लोक 'अन्यच्छायायोनि' भेद का उदाहरण है] ।

[शीधुभाजन मदिरा पात्र में प्रतिबिम्बित] हे चन्द्र ! मेरे इस मदिरा पात्र [को छोड़ कर यहाँ] से जल्दी भाग जाओ । जब तक [प्रिया का या प्रिय का मुख समझ कर] मैं तुम्हें अपने दान्तो से काट न लूँ [उसके पहले ही यहाँ से निकल जाओ तो अच्छा है । नहीं तो फिर] मेरे दांतो के चिन्हो से अङ्कित होकर [अपनी प्रिया] रोहिणी [को यह दन्तक्षत युक्त मुख कैसे दिखाओगे उस] के भय से [दुबारा यहाँ से लौट कर] आकाश को भी न जा सकोगे ।

यह कवि की अपनी अनूठी कल्पना है । इसको 'अयोनि' अर्थ कहते है । इसकी छाया को लेकर दूसरे कवि ने जो दूसरा श्लोक इसी अभिप्राय का लिखा है वह 'अन्यच्छाया' के आधार लिखा जाने से 'अन्यच्छायायोनि' अर्थ का उदाहरण है । जैसे—

[मदिरापात्र में प्रतिबिम्बित] हे चन्द्र ! अब डरो मत मेरी इस मदिरा [पात्र] में राहु नहीं बैठा है, और रोहिणी आकाश में रहती है [वह भी मेरे मदिरा पात्र में स्थित तुमको देख नहीं सकती है] अरे कायर फिर क्यों डरता है । [अथवा] विदग्ध [रतिकेलि-चतुर प्रौढा] वनिताओं के साथ [रतिकालीन] नव सङ्गमो के अवसर पर पुरुषो का मन चञ्चल [भयभीत] हो जाता है [इसलिए तुम्हारे] इस [डरने] में क्या आश्चर्य की बात है ।

[इन दोनों श्लोको में से] पहले श्लोक का अर्थ [कवि की स्वयं अनूठी

अर्थो व्यक्त. सूक्ष्मश्च । ३, २, ९ ।

यस्यार्थस्य दर्शनं समाधिरिति स द्विधा, व्यक्तः सूक्ष्मश्च। व्यक्तः स्फुटः, उदाहृत एव ॥ ९ ॥

सूक्ष्मं व्याख्यातुमाह—

सूक्ष्मो भाव्यो वासनीयश्च । ३, २, १० ।

सूक्ष्मो द्विधा भवति भाव्यो वासनीयश्च । शीघ्रनिरूपणागम्यो भाव्यः । एकाग्रताप्रकर्षगम्यो वासनीय इति । भाव्यो यथा—

अन्योन्यसंवलितमांसलदन्तकान्ति
सोल्लासमाविरलसं वलितार्धतारम् ।
लीलागृहे प्रतिकलं किलकिञ्चितेषु
व्यावर्तमाननयनं मिथुनं चकास्ति ॥

कल्पना होने से] 'अयोनि' है और दूसरे का [श्लोक में उस पूर्व श्लोक की छाया का आश्रय होने से] 'छायायोनि' [अर्थ] है ॥ ८ ॥

अर्थ [प्रकारान्तर से] दो प्रकार का [और] होता है । एक व्यक्त [स्थूल, सर्वजनसवेद्य] और [दूसरा] सूक्ष्म [सहृदयमात्रसंवेद्य] ।

जिस अर्थ का दर्शन 'समाधि' [रूप अर्थगुण कहलाता] है वह व्यक्त [स्थूल] और सूक्ष्म दो प्रकार का होता है । व्यक्त स्पष्ट [अर्थ] है । उसका उदाहरण [पूर्वोक्त 'आश्वपेहि' तथा 'मा भैः शशाङ्क' आदि दोनो श्लोक] दे ही चुके है ॥ ९ ॥

[दूसरे प्रकार के] सूक्ष्म [अर्थ] की व्याख्या करने के लिए कहते है—

सूक्ष्म [अर्थ] 'भाव्य' और 'वासनीय' [दो प्रकार का] होता है ।

सूक्ष्म [अर्थ] दो प्रकार का होता है [एक] 'भाव्य' और [दूसरा] 'वासनीय' । सरसरी दृष्टि [शीघ्र निरूपण] से [ही] समझ में आजानेवाला 'भाव्य' [होता] है । और अत्यन्त ध्यान देने [एकाग्रता के प्रकर्ष] से समझने योग्य [अर्थ] 'वासनीय' [होता] है । 'भाव्य' [का उदाहरण] जैसे—

[रतिकाल में अपने लीलागृह मे नायक-नायिका का जोडा] एक दूसरे से मिश्रित हो रही है सुन्दर दन्तकान्ति जिसकी, [इससे परस्पर सस्मित संल्लाप और अधरपान आदि सूचित होते है] सोल्लास [इससे हर्ष औत्सुक्य] तथा [आविरलसं] आलस्ययुक्त [इससे रतिश्रम अङ्गदौर्बल्य सूचित होते है] एवं [रतिक्रीड़ा की] प्रत्येक कला पर [आनन्द से] अर्धमुद्रित, और [नायिका के]

वासनीयो यथा—

अवहित्थवलितजघनं विवर्तिताभिमुखकुचतटं स्थित्वा ।
अवलोकितोऽहमनया दक्षिणकरकलितहारलतम् ॥ १० ॥

उक्तिवैचित्र्य माधुर्यम् । ३, २, ११ ।

उक्तेर्वैचित्र्यं यत्तन्माधुर्यमिति । यथा—

किलकिञ्चितो [क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः सङ्करः किलकिञ्चितम्] के अवसर पर [व्यावर्तमान] एक दूसरे की ओर घूमते हुए नेत्र वाला [नायक नायिका का] जोडा शोभित होता है ।

इस में नायक नायिका का मिथुन 'आलम्बन विभाव', लीलागृह 'उद्दीपनविभाव', अधरपान, अङ्गभङ्ग, स्मित, कम्प, नयनव्यावर्तन, भ्रू भेदादि 'अनुभाव', उल्लसित, उन्मीलित, हर्ष, औत्सुक्यादि, और 'किलकिञ्चित' से आक्षिप्त क्रोध, शोक, भय, गर्वादि 'सञ्चारीभाव' है । इन 'विभाव', 'अनुभाव' और 'सञ्चारी भाव' के सयोग से 'रति' रूप 'स्थायीभाव' 'साधारणीकरण' की प्रक्रिया से रसिक जनो के चर्वण का विषय बनकर रस पदवी को प्राप्त होता है । यह भावको की अवधान रूप भावना का विषय होने से 'भाव्य' अर्थ का उदाहरण है ।

वासनीय [अर्थ का उदाहरण] जैसे—

आकार-गोपनपूर्वक ['अवहित्था आकारगुप्तिः अपनी दोनों'] जङ्घाओ को मिलाकर, कुचतटों को सामने की ओर करके और दाहिने हाथ से हार-लता को पकड़ कर उस [नायिका] ने मुझ को देखा ।

इस श्लोक में तुम्हारा सम्भोग दुर्लभ है, मेरा मन तुम्ही में लगा हुआ है, मेरे दुरन्त सन्ताप की शान्ति मे केवल यह हारलता ही दाक्षिण्य का अवलम्बन कर रही है इत्यादि रूप नायिका का स्वाभिप्राय प्रकाशन विशेष ध्यान देने से सहृदयो को अनुभव होता है इसलिए यह 'वासनीय' सूक्ष्म अर्थ का उदाहरण दिया है ॥ १० ॥

छठे अर्थगुण 'माधुर्य' का निरूपण अगले सूत्र मे करते है ।

उक्ति-वैचित्र्य माधुर्य [कहलाता] है ।

उक्ति का जो वैचित्र्य है वह 'माधुर्य' [नामक अर्थगुण] है । जैसे—

अमृत [बड़ा] सरस [सुस्वादु] है इसमें कोई सन्देह नहीं । शहद भी और तरह का [अस्वादु] नहीं है [किन्तु मधुर और सुस्वादु ही है] । आम का

सूत्र में दिया हुआ अनेकार्थं विशेषण केवल पद का है अक्षर का नही। क्योकि पद ही अनेकार्थं हो सकता है। यमक पद का अर्थ 'यम्यते गुण्यते आवर्त्यंते पदमक्षर वेति यम'। बहुल ग्रहण से कर्म मे 'घ' प्रत्यय करके 'यम' शब्द बना है। उससे स्वार्थ में 'क' प्रत्यय करके 'यम एव यमकम्' इस प्रकार यमक पद की व्युत्पत्ति होती है। जिससे भिन्नार्थक एक अथवा अनेक पदो की आवृत्ति का 'यमक' कहते है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि यदि एक अथवा अनेक पूरे पदो की आवृत्ति होती है तो उन दोनो का अर्थ अवश्य भिन्न होना चाहिए। समानार्थं पदो की आवृत्ति इस यमकालङ्कार का विषय नही है। जहां पूर्ण पद की आवृत्ति न होकर उसके किसी एक देश की आवृत्ति हो उसको अक्षर की आवृत्ति कहा जायगा। यह एकदेश भूत अक्षर सार्थक न होने से अनर्थक हैं इसलिए सूत्र का अनेकार्थ विशेषण इस अक्षर आवृत्ति के साथ सङ्गत नही होता है। केवल पदो के साथ अन्वित होता है।

भामह ने अपने काव्यालङ्कार मे यमक का लक्षण इस प्रकार किया है—

[1] तुल्यश्रुतीना भिन्नानामभिधेयैः परस्परम्।
वर्णाना य पुनर्वादो यमक तन्निगद्यते॥

अर्थात् सुनने मे समान प्रतीत होने वाले और अर्थ से भिन्न वर्णों की पुनरुक्ति या आवृत्ति को 'यमक' कहते है।

इस लक्षण मे पदो की आवृत्ति का उल्लेख नही किया है। परन्तु 'भिन्नानामभिधेयै. परस्परम्' से पद की प्रतीति हो जाती है। क्योकि केवल वर्ण सार्थक नही होते। पद ही सार्थक होते है। इस प्रकार वर्णों की आवृत्ति में, आवृत्त वर्णों की चार प्रकार की स्थिति होसकती है— १. जहा दोनो सार्थक हो। इस दशा मे दोनो पद होगे और उनको सामानार्थक नही अपितु भिन्नार्थक ही होना चाहिए। २ दूसरी दशा मे दोनो अनर्थक होगे। यह पदो की नही अपितु केवल वर्णों की आवृत्ति कहलावेगी। ३ तीसरे रूप मे प्रथम अश सार्थक और उत्तर भाग अनर्थक हो सकता है। इसमें पहिला सार्थक भाग पद होगा और दूसरा अनर्थक भाग पदाश अथवा वर्ण रूप होगा। ४ चौथी स्थिति मे पूर्वभाग अनर्थक और उत्तर भाग सार्थक हो सकता है। इसमे सार्थक उत्तर भाग पद और अनर्थक पूर्वभाग पदाश रूप वर्ण

[1] भामह काव्यालङ्कार २, १७।

पदमनेकार्थं भिन्नार्थमेकमनेकं वा, तद्वदक्षरमावृत्तं स्थाननियमे सति यमकम्। स्ववृत्त्या सजातीयेन वा कात्स्न्यैंकदेशाभ्यामनेकपादव्याप्तिः स्थाननियम इति।

अथवा अक्षर कहलावेगा। इस प्रकार पदो अथवा वर्णों की आवृत्ति को 'यमक' कहते है। परन्तु जहा पदो की आवृत्ति हो वहा उन दोनो की भिन्नार्थकता अपरिहार्य है। इसलिए साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने यमक का लक्षण करते हुए लिखा है—

[1] सत्यर्थे पृथगर्थाया स्वरव्यञ्जनसहते.।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमक विनिगद्यते॥

'यमक' के लक्षण मे प्राचीन भामह तथा नवीन विश्वनाथ आदि दोनो के लक्षणो से प्रकृत ग्रन्थकार वामन के लक्षण मे यह विशेषता है कि इन्होने अपने लक्ष्य मे स्थान-नियम का विशेष रूप से उल्लेख किया है। और उन स्थानो का विस्तारपूर्वक विवेचन भी किया है। अन्य भामह आदि आचार्यों ने इस स्थान नियम को स्वय समझ लेने योग्य मान कर न उस का उल्लेख अपने लक्षण मे ही किया है और न उसका अधिक विस्तार ही किया है।

अनेकार्थ अर्थात् भिन्न अर्थ वाला एक पद अथवा अनेक पद, और उसी के समान [एक अथवा अनेक] अक्षर स्थान नियम के होने पर आवृत्त होने से 'यमक' [नामक शब्दालङ्कार कहलाते] है। [यमक के प्रयोजक पद की] अपनी वृत्ति [उपस्थिति] से अथवा [दो भिन्न-भिन्न पदो के अंशो से मिलकर एक पद जैसा प्रतीति होने वाले] सजातीय के साथ सम्पूर्ण रूप से अथवा एक देश से अनेक पादों में व्याप्ति को स्थान नियम [कहा जाता] है। [इसका अभिप्राय यह हुआ कि आवृत्त पदो की स्थिति एक पाद में न होकर मुख्यतः अनेक पादो में होनी चाहिए। यह भी वामन का विशेष सिद्धान्त है। परन्तु यदि एकपादस्थ आवृत्ति को यमक न माना जाय तो]—

[2] अथ समाववृते कुसुमैर्नवै—स्तमिव सेवितुमेकनराधिपम्।
यमकुवेरजलेश्वरवज्रिणा समधुर मधुरञ्चितविक्रमम्॥

---

[1] साहित्य-दर्पण १०, ८।

[2] रघुवंश ६, २४।

विभक्तीनां विभक्तत्वं संख्यायाः कारकस्य च ।
आवृत्तिः सुप्तिङन्तानां मिथश्च यमकाद्भुतम् ॥ १६ ॥

इसलिए वह आवृत्ति दोषयुक्त हो जाय 'दुष्येच्चेत्' तो फिर उस को अनुप्रास का भी उदाहरण नही मानना चाहिए। 'न पुनस्तस्य युक्तानुप्रासकल्पना'। यदि उससे काव्य की शोभा की वृद्धि होती हो तो वह यमक ही हो सकता है। परन्तु जब वह यमकसदृश होने पर भी अतिमात्रा मे प्रयुक्त होने से दोषाधायक हो गया है, तब वह अनुप्रास रूप अलङ्कार भी नही हो सकता है, यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है।

सुबन्त अथवा तिङन्त [पदो की] की अलग-अलग अथवा मिलकर भी [ऐसी] आवृति जिसमें विभक्तियो, संख्या [वचन] और कारको का भेद हो उसको 'यमकाद्भुत' [अथवा 'अद्भुत यमक' अलङ्कार] कहते है ॥ १६ ॥

इनके क्रम से उदाहरण इस प्रकार हो सकते है—

विश्वप्रमात्रा भवता जगन्ति,
व्याप्तानि मात्रापि न मुञ्चति त्वाम् ।

विश्व के प्रमाता आपसे सारे जगत् व्याप्त है। उसका कोई भी अश आप से रहित नही है। इस उदाहरण मे 'विश्वप्रमात्रा' और 'मात्रापि' इन दोनो मे 'मात्रा' इस अश की आवृत्ति होने से यह 'यमकाद्भुत' का उदाहरण होता है।

इसी प्रकार—

एताः सन्नाभयो बाला यासा सन्नाभय. प्रिय ।

इस उदाहरण मे 'सन्नाभय' इस पद की आवृत्ति है। परन्तु पहली जगह 'एताः सन्नाभयो बाला.' मे 'सन्नाभय' पद बहुवचनान्त 'एताः बाला' का विशेषण है। और दूसरी जगह 'सन्नाभय' पद, एकवचनान्त 'प्रिय' का विशेषण है। दोनो पदो मे प्रथमा विभक्ति ही होने से यह विभक्ति भेद का नही अपितु सख्याभेद रहते हुए पद की आवृत्ति का उदाहरण है। 'सन्नाभय बालाः' मे 'सन्नाभय.' का अर्थ सुन्दर नाभि वाली बालाए है।

इसी प्रकार—

यतस्तत प्राप्तगुणः प्रभावे,
यतस्ततश्चेतसि भासतेऽयम् ।

शेष सरूपोऽनुप्रास । १, १, ८ ।

पदमेकार्थमनेकार्थं च स्थानानियतं तद्विधमक्षरं च शेषः । सरूपोऽन्येन प्रयुक्तेन तुल्यरूपोऽनुप्रासः ।

इस उदाहरण मे 'यतस्तत.' पद की आवृत्ति है । यह पद सार्वविभक्तिक 'तसि' प्रत्यय करके बना है । इसमें पहली जगह पञ्चम्यर्थ मे और दूसरी जगह सप्तम्यर्थ में 'तसि' प्रत्यय हुआ है । इसलिए यह 'कारक भेद' का उदाहरण है साक्षात् विभक्ति का प्रयोग न होकर 'तसिल्' प्रत्यय के द्वारा प्रयोग होने से विभक्ति-भेद का उदाहरण नही है । इसी प्रकार—

सरति सरति कान्तस्ते ललामो ललाम. ।

यह सुबन्त और तिडन्त पदो की मिश्रित आवृत्ति का उदाहरण है । इसमे 'सरति सरति' तथा 'ललामो ललाम' पदो की आवृत्ति है । इनमे 'सरति सरति' पदो में से एक 'सरति' पद शतृप्रत्ययान्त 'सरत्' शब्द का सप्तम्यन्त या सति सप्तमी का रूप है और दूसरा तिडन्त का लट् लकार का रूप होने से सुबन्त और तिडन्त की मिथ आवृत्ति का उदाहरण है । इसी प्रकार 'ललामो ललाम' मे एक 'ललाम.' पद प्रथमा का एकवचन और दूसरा लट् लकार के उत्तम पुरुष का वहुवचन होने से यह भी सुबन्त तथा तिडन्त पदो की मिथ आवृत्ति का उदाहरण है ।

इन उदाहरणो मे यदि केवल विभक्तिविपरिणाममात्र माने तो ऊपर दिये हुए श्लोक के अनुसार यमकत्व की हानि माननी होगी । परन्तु केवल विभक्तिविपरिणाम न मान कर प्रकृति का भी भेद मानते है तो यमकाद्भुत अलङ्कार होता है । यह यमकत्वहानि और यमकाद्भुत का भेद समझना चाहिये ॥ ७ ॥

इस प्रकार यमक का निरूपण कर चुकने के वाद दूसरे शब्दालङ्कार का निरूपण प्रारम्भ करते है ।

[यमक से भिन्न] अन्य सारूप्य को 'अनुप्रास' कहते है ।

यमक में स्थान नियत होता है । और आवृत्त पदो में भिन्नार्थकता अनिवार्य होती है । इसलिए शेष अनुप्रास से तात्पर्य अनियत स्थान तथा एकार्थ अथवा अनेकार्थक पदो की आवृत्ति से है । इसी को वृत्तिकार कहते है ।

एकार्थक और अनेकार्थक [दोनो प्रकार के] और अनियत स्थान वाले पद तथा उसी प्रकार के अनियत स्थान वाले अक्षर शेष [पद से अभि-

ननु च 'शेषोऽनुप्रासः' इत्येतावदेव सूत्रं कस्मान्न कृतम्। आवृत्तिशेषोऽनुप्रास इत्येव हि व्याख्यास्यते।

सत्यम्। सिद्धत्येवा वृत्तिशेषे किं त्वव्याप्तिप्रसङ्गः। विशेषार्थं च सरूप-ग्रहणम्। कात्स्न्र्येनैवावृ त्तिः कात्स्न्र्यैकदेशाभ्यां तु सारूप्यमिति ॥८॥

प्रेत] है। [इस प्रकार जो शेष] सरूप [अर्थात्] अन्य प्रयुक्त [हुए पद] के तुल्य रूप [पद को] अनुप्रास [कहा जाता] है। [अर्थात् एकार्थ अथवा अनेकार्थ स्थानानियत पद के अन्य प्रयुक्त हुए पद के साथ सादृश्य अथवा आवृत्ति को 'अनुप्रास' कहते हैं ; यह 'अनुप्रास' का लक्षण हुआ]।

[प्रश्न] 'शेषोऽनुप्रासः' इतना ही सूत्र क्यों नहीं बनाया। [यमक से भिन्न] शेष [अन्य प्रकार] की आवृत्ति को 'अनुप्रास' कहते हैं। यह इस प्रकार की उस सूत्र की व्याख्या हो जावेगी।

[उत्तर] आपका कथन ठीक है। आवृत्ति शेष अनुप्रास होता है [यह लक्षण] बन ही सकता है। किन्तु [उतना लक्षण रखने से] अव्याप्ति की सम्भावना हो सकती है। [इसलिए] विशेष [रूप से अव्याप्ति दोष रहित अनुप्रास का लक्षण करने] के लिए [सूत्र में] 'सरूप' पद का ग्रहण किया है। [इस 'सरूप' पद के ग्रहण करने से भेद यह हो जाता है कि यमक में अभिप्रेत आवृत्ति स्वर-व्यञ्जन संघात की] सम्पूर्ण रूप से 'आवृत्ति' होती है और [अनुप्रास में स्वरव्यञ्जन संघात रूप] सम्पूर्ण अथवा एकदेश [दोनो प्रकार] से सारूप्य हो सकता है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि यमक मे पूर्ण रूप से स्वर-व्यञ्जन-सङ्घात की आवृत्ति आवश्यक है। परन्तु अनुप्रास मे स्वरभेद होने पर भी केवल व्यञ्जन की भी आवृत्ति हो सकती है। यही यमक और अनुप्रास का भेद है। इसी लिए श्री विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण मे इन दोनो के लक्षण इस प्रकार किए है —

[1] सत्यर्थे पृथगर्थाया. स्वरव्यञ्जनसहते.।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥

अर्थात् सार्थक होने पर भिन्नार्थक स्वरव्यञ्जनसङ्घात की उसी क्रम से आवृत्ति को 'यमक' कहते है। इसके विपरीत—

[2] अनुप्रासः शब्दसाम्य वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्।

स्वर का भेद होने पर शब्द का साम्यमात्र अनुप्रास कहलाता है ॥ ८ ॥

---

[1] साहित्यदर्पण १०, ८। [2] साहित्यदर्पण १०, ७।

तस्या उपमाया द्वैविध्यं, पदवाक्यार्थवृत्तिभेदात् । एका पदार्थवृत्तिः, अन्या वाक्यार्थवृत्तिरिति । पदार्थवृत्तिर्यथा—

हरिततनुषु बभ्रुत्वग्विमुक्तासु यासां
कनककणसधर्मा मान्मथो रोमभेदः ॥ ५ ॥

वाक्यार्थवृत्तिर्यथा—

पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन ।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥ ६ ॥ ३ ॥

उस उपमा के दो प्रकार होते हैं । पद [पदार्थ] और वाक्य के अर्थ में रहने के भेद से [अर्थात्] एक पदार्थ में रहने वाली [पदार्थवृत्ति] और दूसरी वाक्यार्थ में रहने वाली [वाक्यार्थवृत्ति] होती है । [उनमें से] पदार्थवृत्ति [उपमा का उदाहरण] जैसे [निम्न लिखित श्लोक में है]—

जिनका मटैली खाल से रहित हरित देहों पर स्वर्णकण के समान मन्मथ सम्बन्धी रोमाञ्च [रोमभेद दिखाई देता] है ॥५॥

वाक्यार्थ वृत्ति [उपमा का उदाहरण] जैसे—

कन्धे पर लम्बा हार धारण किए और लाल चन्दन का अङ्गराग लगाए यह पाण्ड्य [देश का राजा] प्रातःकालीन [लाल-लाल] बालातप से रक्त शिखर वाले और झरने के प्रवाह से युक्त पर्वतराज के समान सुशोभित हो रहा है ।

इस उदाहरण में पाण्ड्य देश के राजा की उपमा कालिदास ने अद्रिराज से दी है । परन्तु वह केवल पाण्ड्य और अद्रिराज का ही उपमेय उपमान भाव नही है, अपितु पाण्ड्य के साथ 'अंसार्पितलम्बहार·' और 'हरिचन्दनेन क्लृप्ताङ्गराग.' यह दो विशेषण जुडे हुए है । इसलिए उसके साम्य को पूर्ण करने के लिए अद्रिराज रूप उपमान मे भी 'बालातपरक्तसानु' और 'सनिर्झरोद्गार' यह दो विशेषण जोडे गए हैं । अन्यथा उन दोनो का उपमानोपमेय भाव अपूर्ण ही रहता । इस प्रकार अनेक पदो में व्याप्त—अनेक पदो में पूर्ण—होने के कारण 'वाक्यार्थवृत्ति' उपमा कहलाती है । इसके विपरीत प्रथम उदाहरण में उपमा का सम्बन्ध इतना व्यापक नही है । वह केवल 'कनककणसधर्मा रोमभेद.' में समाप्त हो गई है । इसलिए वह वाक्यार्थवृत्ति नही अपितु 'पदार्थवृत्ति' उपमा का उदाहरण है । यद्यपि उपमा में उपमान, उपमेय, सादृश्य और उपमा वाचक इवादि पदो की स्थिति आवश्यक होने से उसका सम्बन्ध अनेक पदो से होता

सा पूर्णा लुप्ता च । ४, २, ४ ।

सा उपमा पूर्णा लुप्ता च भवति ॥ ४ ॥

गुणद्योतकोपमानोपमेयशब्दानां सामग्र्ये पूर्णा । ४, २, ५ ।

गुणादिशब्दानां सामग्र्ये साकल्ये पूर्णा । यथा—

कमलमिव मुख मनोज्ञमेतत् ॥ ७ ॥ इति ॥ ५ ॥

ही है । वह केवल एक पद मे समाप्त नही हो सकती है । फिर भी यह उमान उपमेयादि अनेक पद मिल कर भी पूर्ण वाक्य नही होते है । इसलिए इस प्रकार की उपमा को 'पदार्थवृत्ति' उपमा ही कहा है । जहाँ यह सब मिलकर पूरा वाक्य बन जाता है वहा उपमा को 'वाक्यार्थवृत्ति' उपमा कहा जाता है । इसी से 'पाण्डचोऽयमसार्पितलम्बहार.' इत्यादि श्लोक में वाक्यार्थवृत्ति उपमा है ॥३॥

पहिले उपमा के 'लौकिकी' और 'कल्पिता' यह दो भेद किए थे । उसके बाद प्रकारान्तर से उसके 'पदार्थवृत्ति' और 'वाक्यार्थवृत्ति' यह दो भेद किए है । इसके बाद तीसरे प्रकार से उपमा के 'पूर्णा' और 'लुप्ता' उपमा इस प्रकार के दो भेद करते है । वामन के पहिले दोनो प्रकारो को उत्तरवर्ती आचार्यों ने विशेष महत्व नही दिया है । परन्तु इस 'पूर्णा' और 'लुप्ता' उपमा वाले भेद को उत्तरवर्ती आलङ्कारिक आचार्यो ने अपनाया है ।

वह [उपमा] पूर्णा और लुप्ता [दो प्रकार की] होती है ।

वह उपमा पूर्णा और लुप्ता [भेद से दो प्रकार की] होती है ॥ ४ ॥

१ गुण [अर्थात् उपमान उपमेय का साधारण धर्म], २. द्योतक [अर्थात् उपमा का द्योतक इवादि शब्द], ३. उपमान [चन्द्र आदि] और ४. उपमेय [मुखादि, इन चारो के वाचक] शब्दो के पूर्ण [रूप से उपस्थित] होने पर पूर्णा [उपमा] होती है ।

गुणादि [१. साधारण धर्म, २ उपमावाचक इवादि शब्द, ३. उपमान और ४. उपमेय इन चारो के वाचक] शब्दो के पूर्ण [रूप से उपस्थित] होने पर 'पूर्णा' [उपमा होती] है । जैसे—

यह मुख कमल के समान सुन्दर है ।

इस उदाहरण में १ 'कमल' 'उपमान', २.'मुख' 'उपमेय', ३. 'मनोज्ञ' यह इन दोनो का 'साधारण धर्म', तथा ४. 'इव' यह उपमा 'वाचक' पद है । इन चारो के उपस्थित होने से यह 'पूर्णोपमा' का उदाहरण है ॥ ५ ॥

सूर्यांशुसम्मीलितलोचनेषु दीनेषु पद्मानिलनिर्मदेषु ।
साध्व्यः स्वगेहेष्विव भर्तृहीनाः केका विनेशुः शिखिनां मुखेषु ॥

अत्र बहुत्वमुपमेयधर्माणामुपमानात् ।
न, विशिष्टानामेव मुखानामुपमेयत्वात् । तादृशेष्वेव केकाविनाशस्य सम्भवात् ॥ १० ॥

इसी प्रकार वर्षा ऋतु के बीत जाने पर मोरो की केका ध्वनि उनके मुखो में ही लीन हो गई । इसी बात को कवि कहता है—

[शरद् ऋतु मे] सूर्य की किरणों [के असह्य होने] से मुंदी हुई आंखों वाले और कमलो [को स्पर्श करके आने वाली शरत्काल] की वायु से मद रहित [अतएव] दीन मयूरों के मुखो में [उनकी] केका [ध्वनि] इस प्रकार लुप्त [नश् अदर्शने] हो गई जैसे भर्तृविहीना पतिव्रता स्त्रियां अपने घरों में ही लीन हो जाती है [बाहर नहीं निकलतीं । इसी प्रकार मोरों की केका ध्वनि उनके मुखो में ही लीन हो गई बाहर नहीं निकल रही है]।

[शङ्का] इस ['साध्व्यः स्वगेहेष्विव भर्तृहीनाः'] में उपमान की अपेक्षा उपमेय के धर्मो का बहुत्व [१. 'सूर्यांशुसम्मीलितलोचनेषु, २. 'पद्मानिलनिर्मदेषु' और ३ 'दीनेषु' इन तीन विशेषण युक्त होने से] है । [अर्थात् उपमान में धर्मन्यूनता होने से इसको भी 'हीनत्व' दोष ग्रस्त मानना चाहिए]।

[उत्तर—ग्रन्थकार इस प्रश्न का उत्तर देते हैं] यह कहना ठीक नहीं है । [यहा तीनो विशेषणो से विशिष्ट मुखो का ही उपमेयत्व है । उसी प्रकार के ['सूर्यांशुसम्मीलितलोचनेषु' आदि तीनों विशेषणो से युक्त] मुखो में केका ध्वनि का विनाश सम्भव होने से [यह दोष नहीं है]।

ग्रन्थकार का यह समाधान असङ्गत सा प्रतीत होता है । प्रश्नकर्ता ने भी यही कहा था कि यहा उपमेय अनेक धर्मो से विशिष्ट है परन्तु उपमान उन धर्मो से विशिष्ट नही है इसलिए उपमान मे धर्मन्यूनता होने के कारण यहा दोष मानना चाहिए । समाधान करते समय यह दिखलाना चाहिए था कि उपमान भी उन धर्मो से युक्त है इसलिए कोई दोष नही है । अर्थात् उपमेय के जो तीन विशेषण दिये ग है उनको उपमान पक्ष मे भी लगाने का प्रयास किया जाता तव तो इसका समाधान हो सकता है । परन्तु ग्रन्थकार उस मार्ग का अवलम्वन न करके कुछ और ही बात कह रहे है । यह तो 'आम्रान्

तेनाधिकत्व व्याख्यातम् । ४, २, ११ ।

तेन हीनत्वेनाधिकत्वं व्याख्यातम् । जातिप्रमाणधर्माधिक्यमधिकत्वमिति । जात्याधिक्यरूपमधिकत्वं यथा—

विशन्तु विष्टयः शीघ्रं रुद्रा इव महौजसः ।

प्रमाणाधिक्यरूपं यथा—

पातालमिव नाभिस्ते स्तनौ क्षितिधरोपमौ ।
वेणीदण्डः पुनरयं कालिन्दीपातसन्निभः ॥

पृष्ट कोविदारानाचष्टे' के समान बात हुई । इसलिए यह उत्तर ठीक नही है ॥ १० ॥

उपमागत हीनत्व दोष की व्याख्या कर चुकने के बाद ग्रन्थकार दूसरे उपमादोष 'अधिकत्व' का निरूपण अगले सूत्र में करते हैं—

इस [हीनत्व दोष की व्याख्या] से अधिकत्व [दोष] की व्याख्या [भी] हो गई [समझना चाहिए] ।

उस हीनत्व [की व्याख्या] से अधिकत्व की व्याख्या हो गई । [अर्थात् जैसे हीनत्व तीन प्रकार का होता है इसी प्रकार] जाति, प्रमाण और धर्म के [उपमेय की अपेक्षा उपमान में] अधिक होने पर अधिकत्व [दोष] होता है । जात्याधिक्य रूप अधिकत्व [का उदाहरण] जैसे—

रुद्र [शिव] के समान महापराक्रमी कहार ['विष्टिः कारौ कर्मकरे' इति वैजयन्ती] शीघ्र भीतर आ जावें ।

यहाँ 'कहार' उपमेय है 'रुद्र' उपमान है । 'महौजसत्व' साधारण धर्म तथा 'इव' उपमा वाचक शब्द है । इन चारो के विद्यमान होने से यह पूर्णोपमा है । इसमें 'उपमानभूत रुद्र' में 'उपमेयभूत कहार' की अपेक्षा जातिगत आधिक्य होने से 'अधिकत्व' दोष है । यो तो उपमान में उपमेय की अपेक्षा आधिक्य होता ही है परन्तु वह मर्यादा से अधिक नही होना चाहिए । शिव से कहार की उपमा देने में मर्यादा का अतिक्रमण कर दिया गया है । इसलिए दोष है ।

प्रमाणाधिक्य रूप [अधिकत्व दोष का उदाहरण] जैसे—

तुम्हारी नाभि पाताल के समान [गहरी], स्तन पहाड़ के समान

धर्माधिक्यरूपं यथा—

सरश्मि चञ्चलं चक्रं दधद् देवो व्यराजत।
सवाडवाग्निः सावर्तः स्रोतसामिव नायकः॥

सवाडवाग्निरित्यस्योपमेयेऽभावाद् धर्माधिक्यमिति।

[ऊँचे] और यह वेणी दण्ड [केशपाश] यमुना की धारा के समान [काले] हैं।

[इन तीनों उपमाओं में उपमान में परिमाणगत आधिक्य है। पाताल से नाभि की, और पर्वत से स्तन की उपमा देना अत्यन्त असङ्गत है। इसलिए उपमान में मर्यादा को अतिक्रमण करने वाला परिमाणगत आधिक्य होने के कारण 'अधिकत्व' रूप उपमा-दोष है]।

धर्माधिक्य रूप [अधिकत्व दोष का उदाहरण] जैसे—

रश्मियो से युक्त चञ्चल चक्र को धारण किए विष्णु, वडवानल और [आवर्त] भंवर से युक्त [नदीपति] समुद्र के समान सुशोभित हुए।

इसमे 'विष्णु' उपमेय और 'समुद्र' उपमान है। विष्णु चक्र को धारण किए है, और समुद्र आवर्त युक्त है। चक्र के दो विशेषण 'सरश्मि' और 'चञ्चल' उपमेय पक्ष मे हैं। पर उपमान पक्ष मे केवल 'सवाडवाग्नि' एक विशेषण है वह भी चक्रस्थानीय 'आवर्त' का नही अपितु स्वयं उपमानभूत समुद्र का। इसलिए वास्तव में यहाँ उपमानगत धर्म की न्यूनता प्रतीत होती है। परन्तु ग्रन्थकार ने इसे उपमानगत धर्माधिक्य का उदाहरण दिया है। उसकी सङ्गति इस प्रकार लगती है कि उपमेय पक्ष मे 'सरश्मि' तथा 'चञ्चल' यह दोनो विशेषण केवल चक्र के है। मुख्य उपमेयभूत देव का केवल एक विशेषण है। परन्तु उपमान पक्ष में मुख्य उपमानभूत समुद्र के दो विशेषण है। इनमे से उपमान के आवर्त के स्थान पर उपमेय पक्ष में चक्र है। परन्तु उपमान के दूसरे विशेषण 'सवाडवाग्नि' के स्थान पर उपमेय पक्ष में कोई धर्म दिखाई नही देता। इसलिए यह उपमानगत धर्माधिक्य का उदाहरण हो सकता है। इसी बात को वृत्तिकार स्पष्ट करते है।

सवाडवाग्नि इस [उपमानगत धर्म के समकक्ष किसी धर्म] के उपमेय [देव पक्ष] में न होने से [उपमान में] धर्म का आधिक्य है। [अतएव यहाँ 'अधिकत्व' रूप उपमा दोष विद्यमान है]।

अनयोर्दोषयोर्विपर्ययाख्यस्य दोषस्यान्तर्भावान्न पृथगुपादानम्। अत एवास्माकं मते षड् दोषा इति ॥ ११ ॥

इस प्रकार ग्रन्थकार ने 'हीनत्व' और 'अधिकत्व' दोप की यह व्याख्या की है कि उपमान की जाति, प्रमाण और धर्मगत न्यूनता होने पर 'हीनत्व' तथा अधिकता होने पर' अधिकत्व' दोष होता है। अर्थात् 'हीनत्व' तथा 'अधिकत्व' दोनो जगह उपमान मे ही धर्म आदि की न्यूनता या अधिकता गिनी गई है। उपमेय-गत हीनता या अधिकता का विचार नही किया गया है। इससे किसी के मन में यह शङ्का हो सकती है कि उपमेयगत हीनत्व और अधिकत्व के आधार पर ही दो दोष और भी मानने चाहिएँ। इस प्रकार उपमा दोषो की सख्या ६ के स्थान पर आठ हो जानी चाहिए। इस शङ्का का समाधान ग्रन्थकार अगली पक्ति में यह करते है कि उपमान की अधिकता तभी होगी जब उपमेय मे हीनता हो। इसी प्रकार उपमान मे हीनता तभी होगी जब उपमेय में आधिक्य हो। इसलिए उपमानगत हीनता और अधिकता में ही उपमेयगत हीनता और अधि-कता का अन्तर्भाव हो जाने से उसके प्रतिपादन के लिए अलग दोष दिखलाने की आवश्यकता नही है और उपमा के छ दोष मानना ही उचित है। आठ दोष मानने की आवश्यकता नही है। इसी बात को वृत्ति में कहते है।

इन दोनो दोषो के विपर्यय [अर्थात् उपमेयगत हीनत्व तथा उपमेयगत अधिकत्व] नामक दोष का इन्हीं [उपमानगत हीनत्व तथा अधिकत्व] में अन्तर्भाव हो जाने से अलग ग्रहण [प्रतिपादन] करने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए हमारे मत में [ऊपर गिनाए हुए] छः [ही उपमा के] दोष है [अधिक नहीं]।

इस प्रकार वामन ने हीनत्व और अधिकत्व नाम से जो उपमा के दोप प्रतिपादन किए है उनको वामन के उत्तरवर्ती आचार्य विश्वनाथ आदि अलग मानने की आवश्यकता नही समझते है। विश्वनाथ ने इन दोनो दोषो का अन्तर्भाव 'अनुचितार्थता' दोष में कर लिया है। इसलिए न केवल इन दोनो का अपितु असादृश्य तथा असम्भव दोषो का भी अनुचितार्थत्व दोष में अन्तर्भाव करते हुए वह लिखते है—

[1] "उपमायामसादृश्यासम्भवयो, जातिप्रमाणगतन्यूनत्वाधिकत्वयो, अर्थान्तरन्यासे उत्प्रेक्षितार्थसमर्थने चानुचितार्थत्वम्।" ॥ ११ ॥

---

[1] साहित्यदर्पण ७-१६।

उपमानोपमेययोर्लिङ्गव्यत्यासो लिङ्गभेद. । ४, २, १२ ।

उपमानस्योपमेयस्य च लिङ्गयोर्व्यत्यासो विपर्ययो लिङ्गभेदः । यथा—

सेन्यानि नद्य इव जग्मुरनर्गलानि ॥ १२ ॥

ष्टः पुन्नपु सकयो प्रायेण । ४, २, १३ ।

इस प्रकार हीनत्व तथा अधिकत्व इन दो प्रकार के उपमा-दोषो का निरूपण करने के बाद ग्रन्थकार लिङ्गभेद रूप तृतीय उपमा-दोष का प्रतिपादन अगले सूत्र में करते है ।

उपमान और उपमेय के लिङ्ग का परिवर्तन लिङ्गभेद [दोष] है ।

उपमान और उपमेय के लिङ्ग का परिवर्तन बदल जाना लिङ्गभेद [उपमा-दोष कहलाता] है । जैसे—

सेनाएँ नदियो के समान अबाधित रूप से चलने लगीं ।

इस उदाहरण मे 'सैन्यानि' उपमेय है और 'नद्य' उपमान है । 'अनर्गल गमन' उनका साधारण धर्म है और 'इव' उपमावाचक शब्द है । इन चारो के होने से यह पूर्णोपमा का उदाहरण है परन्तु इसमे उपमेय रूप 'सैन्यानि' पद नपुंसकलिङ्ग का और उपमानभूत 'नद्य' पद स्त्रीलिङ्ग का है । इस लिङ्गभेद हो जाने के कारण यहाँ 'लिङ्गभेद' नामक उपमा-दोष हो जाता है ॥ १२ ॥

इस प्रकार लिङ्गभेद दोष का साधारण निरूपण किया । परन्तु कही-कही इसका अपवाद भी पाया जाता है अर्थात् इस प्रकार का लिङ्गभेद होने पर भी दोष नही माना जाता है । इस प्रकार के अपवादो को अगले दो सूत्रो में दिखलाते है ।

पुंलिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग का [लिङ्ग विपर्यय] प्रायः इष्ट होता है । [अर्थात् उपमान और उपमेय में से एक पुंलिङ्ग हो और दूसरा नपुंसक लिङ्ग हो इस प्रकार का लिङ्गभेद प्रायः इष्ट होता है अर्थात् दोष नहीं माना जाता है ।]

पुन्नपुंसकयोरुपमानोपमेययोर्लिङ्गभेदः प्रायेण बाहुल्येनेष्टः । यथा 'चन्द्रमिव मुखं पश्यति' इति । 'इन्दुरिव मुखं भाति', एवम्प्रायन्तु नेच्छन्ति ॥ १३ ॥

लौकिक्यां समासाभिहितायामुपमाप्रपञ्चे । ४, २, १४ ।

लौकिक्यामुपमायां समासाभिहितायामुपमायामुपमाप्रपञ्चे चेष्टो लिङ्गभेदः प्रायेणेति । लौकिक्यां यथा 'छायेव स तस्याः', 'पुरुष इव स्त्री' इति ।

पुंलिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग उपमान और उपमेय का लिङ्गभेद बहुधा इष्ट होता [दोष नहीं माना जाता] है ।,जैसे 'चन्द्रमिव मुखं पश्यति'-चन्द्रमा के समान मुख को देखता है । यहाँ [उपमानभूत 'चन्द्र' शब्द पुलिङ्ग है और उपमेयभूत मुख शब्द नपुंसक लिङ्ग है । ऐसा लिङ्गभेद होने पर भी कवियो में इस प्रकार का बहुल प्रयोग होने के कारण उसको दोष नहीं माना जाता । उस प्रकार का प्रयोग कवियो को इष्ट है परन्तु उसी के आधार पर] 'इन्दुरिव मुखम्' इस प्रकार के प्रयोग को प्रायः [कवि गण] पसन्द नहीं करते है । [इसमें भी 'इन्दु' शब्द पुंलिङ्ग और 'मुखम्' शब्द नपुंसक लिङ्ग है । परन्तु इस प्रयोग को कविगण नहीं पसन्द करते है । इसलिये इसमें लिङ्गभेद दोष होगा । इसी के बोधन के लिए अपवाद सूत्र में 'प्रायेण' पद का ग्रहण किया है] ॥ १३ ॥

इसी प्रकार लिङ्गभेद दोप के और भी अपवाद अगले सूत्र मे दिखलाते है ।

१. लौकिकी [उपमा] में, २. समासाभिहित [उपमा] में और ३ उपमा के [प्रतिवस्तूपमा आदि अन्य] भेदो में [भी लिङ्गभेद इष्ट है । दोष नहीं होता है] ।

लौकिकी उपमा में, समासाभिहित उपमा में और उपमा के [प्रतिवस्तूपमा आदि] भेदो में लिङ्गभेद प्रायः इष्ट होता है । [दोष नहीं होता] । जैसे लौकिकी [उपमा] में 'स तस्याः छाया इव' वह [पुरुष] उस [स्त्री] की छाया के समान है । [इसमें उपमेय 'सः' पुंल्लिङ्ग और उपमानभूत 'छाया' स्त्रीलिङ्ग है । परन्तु यह लिङ्गभेद दोष नहीं माना जाता । [अथवा इसी का दूसरा उदाहरण जैसे यह] स्त्री पुरुष के समान है । [यहाँ उपमेय 'स्त्री' स्त्री-

समासाभिहितायां यथा—'भुजलता नीलोत्पलसदृशी' इति।
उपमाप्रपञ्चे यथा—

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः॥

एवमन्यदपि प्रयोगजातं द्रष्टव्यम्॥ १४॥

लिङ्ग में और उपमान पुरुष पुलिङ्ग में है। परन्तु यहाँ भी लिङ्गभेद को दोष नहीं माना जाता है। इसका कारण यह है कि लोक में इस प्रकार के प्रयोग के प्रचुर मात्रा में पाए जाने से इस प्रकार के प्रयोग को इष्ट ही मानना पड़ता है]।

समासाभिहित [उपमा] में [लिङ्गभेद की अदोषता का उदाहरण] जैसे—'भुजलता नीलोत्पलसदृशी' [इस उदाहरण में उपमेय 'भुजलता' स्त्री-लिङ्ग है और उपमानभूत 'नीलोत्पल' नपुंसकलिङ्ग है। परन्तु 'नीलोत्पलसदृशी' इस समास में आ जाने से नीलोत्पल का नपुंसकत्व दब जाता है इसलिए वह दोष बाधक नहीं रहता है]।

उपमा के [प्रतिवस्तूपमा आदि] भेदों में लिङ्गभेद की अदोषता का उदाहरण] जैसे—

महलों में भी दुर्लभ यह शरीर यदि आश्रमवासी [इस शकुन्तला रूप] जन का हो सकता है [यदि एक तपस्विनी वनवासिनी को भी रानियों से बढ़ कर इस प्रकार का अलौकिक देह-सौन्दर्य प्राप्त हो सकता है] तो [निश्चय ही] वन की [जंगली] लताओं से उद्यान की लताएँ तिरस्कृत हो गईं।

कालिदास के शकुन्तला नाटक में शकुन्तला को देखकर यह राजा दुष्यन्त की उक्ति है। इसमें 'प्रतिवस्तूपमा' अलङ्कार है। 'प्रतिवस्तूपमा' का लक्षण विश्वनाथ ने इस प्रकार किया है :—

[1]प्रतिवस्तूपमा सा स्याद् वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः।
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक्॥

इस प्रकार [प्रतिवस्तूपमा के उदाहरणभूत] अन्य प्रयोग भी समझ लेने चाहिएँ॥ १४॥

इस प्रकार लिङ्गभेद और उसके अपवाद स्थलों को दिखलाने के बाद ग्रन्थकार चतुर्थ उपमादोष 'वचनभेद' की व्याख्या अगले सूत्र में करते हैं।

---

[1]साहित्यदर्पण १०,५०।

तेन वचनभेदो व्याख्यातः । ४, २, १५ ।

तेन लिङ्गभेदेन वचनभेदो व्याख्यातः । यथा—
पास्यामि लोचने तस्याः पुष्पं मधुलिहो यथा ॥ १५ ॥

अप्रतीतगुणसादृश्यमसादृश्यम् । ४, २, १६ ।

अप्रतीतैरेव गुणैर्यत् सादृश्यं तदप्रतीतगुणसादृश्यम् । यथा—
ग्रथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम् ।
काव्यस्य शशिना सह यत् सादृश्यं तदप्रतीतैरेव गुणैरिति ।

उस [लिङ्गभेद रूप दोष के निरूपण] से वचनभेद [रूप उपमा-दोष] की व्याख्या [भी] हो गई ।

उस लिङ्गभेद से वचनभेद की व्याख्या [भी] हो गई [अर्थात् उपमान और उपमेय में यदि वचन का भेद हो तो वहां वचनभेद नामक उपमा-दोष होता है] । जैसे—

भौंरो के समान उस [नायिका] के नेत्रो का [पान] चुम्बन करूंगा ।

यहाँ 'पास्यामि' पद से उपमेय में एकवचन सूचित होता है परन्तु उपमानभूत 'मधुलिह.' पद बहुवचनान्त है । इसलिए उपमेय मे एकवचन तथा उपमान मे बहुवचन होने से यहा वचनभेद नामक उपमा-दोष होता है ॥ १५॥

अगले सूत्र में 'असादृश्य' रूप पञ्चम उपमादोष का निरूपण करते है—

[लोक में] प्रतीत न होने वाले गुणो से सादृश्य [दिखलाना] असादृश्य [रूप उपमा-दोष] है ।

प्रतीत न होने वाले गुणो से ही जो सादृश्य दिखलाया जावे वह अप्रतीत-गुणसादृश्य [पद का अर्थ हुआ और] असादृश्य [नामक उपमादोष कहलाता] है । जैसे—

फैली हुई अर्थ रूप रश्मियो से युक्त काव्य [रूप] चन्द्रमा को ग्रथित करता [बनाता—निर्माण करता] हू ।

[इस उदाहरण में] काव्य का चन्द्रमा के साथ जो सादृश्य [दिखलाया गया] है वह अनुभव में न आने वाले [अप्रतीतैरेव] गुणो से ही [दिखलाया गया] है इसलिए [यहां असादृश्य रूप उपमा-दोष है]

ननु चार्थानां रश्मितुल्यत्वे सति काव्यस्य शशितुल्यत्वं भविष्यति।

नैवम् । काव्यस्य शशितुल्यत्वे सिद्धेऽर्थानां रश्मितुल्यत्वं सिद्ध्यति । न ह्यर्थानां रश्मीनां च कश्चित् सादृश्यहेतुः प्रतीतो गुणोऽस्ति। तदेवमितरेतराश्रयदोषो दुरुत्तर इति ॥ १६ ॥

असादृश्यहता ह्युपमा तन्निष्ठाश्च कवयः । ४, २, १७ ।

असादृश्येन हता असादृश्यहता उपमा। तन्निष्ठा, उपमानिष्ठाश्च कवयः इति ॥ १७ ॥

[प्रश्न] अर्थ में रश्मितुल्यता मान लेने पर [उस प्रतीत सादृश्य के आधार पर] काव्य में शशितुल्यता हो जावेगी [अतः दोष नहीं रहेगा]।

[उत्तर] आपका यह कहना ठीक नही है [क्योंकि अर्थ में रश्मितुल्यता—रश्मि-सादृश्य भी तो अप्रतीत है। उस अर्थ के रश्मि के साथ सादृश्य का उपादान करने के लिए आप यह कहोगे कि] काव्य की शशितुल्यता सिद्ध हो जाने पर अर्थों की रश्मितुल्यता सिद्ध हो जावेगी [इस प्रकार तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। काव्य में शशितुल्यता होने पर अर्थों की रश्मितुल्यता होगी और अर्थों की रश्मितुल्यता सिद्ध होने पर काव्य की शशितुल्यता होगी। यह अन्योन्याश्रय दोष हो जावेगा। क्योंकि] अर्थों और रश्मियो के सादृश्य का कोई हेतु रूप गुण प्रतीत नहीं होता है । इसलिए [जिस शैली से आप काव्य का शशि के साथ सादृश्य का उपपादन करना चाहते हैं उसमें] अन्योन्याश्रय दोष का समाधान नही हो सकता है। [अतएव इस उदाहरण में असादृश्य रूप उपमा दोष है।] ॥ १६ ॥

उपमा अलङ्कार का जीवन ही सादृश्य पर अवलम्बित है। सादृश्य ही उपमा का सार है। इसलिए यदि उपमा में भी सादृश्य का यथोचित निर्वाह न किया जाय तो सादृश्यविहीन उपमा ही कहा रहती है। इस प्रकार असादृश्यमूलक उपमा भी नही बनती और उसका अवलम्बन करने वाले कवि का भी गौरव नष्ट होता है। इस बात को ग्रन्थकार अगले सूत्र में दिखलाते हैं :—

सादृश्य के अभाव में उपमा नष्ट हो जाती है और उस [सादृश्यविहीन उपमा] में लगे हुए [उस प्रकार की सादृश्यविहीन उपमा का प्रयोग

उपमानाधिक्यात् तदपोह इत्येके । ४, २, १८ ।

उपमानाधिक्यात् तस्याऽसादृश्यस्याऽपोह इत्येके मन्यन्ते । यथा—

कर्पूरहारहरहाससितं यशस्ते ।

करने वाले] कवि भी मारे जाते हैं [यश और प्रतिष्ठा से वञ्चित रहते हैं] ॥ १७ ॥

इस प्रकार के असादृश्य दोष के निवारण के लिए कुछ लोग यह कहते है कि जहा एक उपमान से सादृश्य प्रतीत नही होता है वहा यदि अनेक उपमान रख दिए जावें तो वह प्रतीत न होने वाला सादृश्य स्फुट रूप से प्रतीत होने लगता है और वह असादृश्य दोष नही रहता । जैसे—यश की उपमा कोई कर्पूर से दे तो शायद काव्य और शशि के सादृश्य के समान कर्पूर और यश का सादृश्य भी प्रतीत न हो । परन्तु उसी सादृश्य के स्पष्टीकरण के लिए यदि केवल कर्पूर के बजाय उसी प्रकार के अनेक उपमान एक साथ जोड कर 'कर्पूरहारहर हाससित यशस्ते' कहा जाय तो अनेक उपमानो से उनका शुक्लता रूप सादृश्य स्पष्ट हो जायगा ।

परन्तु सिद्धान्त पक्ष मे आचार्य वामन इस बात से सहमत नही है । उनके मत में जहा एक उपमान से सादृश्य स्पष्ट नही होता है तो उस प्रकार के अनेक उपमानो से भी उसकी पुष्टि नही हो सकती है । 'कर्पूरहारहरहाससित यशस्ते' । इस उदाहरण मे 'यश' का 'कर्पूर' आदि के साथ सादृश्य तो 'सित' पद से स्वय उपात्त है । वह अनेक उपमानो के कारण प्रतीत नही होता है अपितु शब्दत. प्रतिपादित होने से ही प्रतीत होता है । इसलिए उपमानो के आधिक्य से असादृश्य दोष का अपोह या परिमार्जन हो जाता है यह कहना ठीक नही है ।

इसी विषय का प्रतिपादन करने के लिए ग्रन्थकार ने अगले दो सूत्र लिखे है । पहिले सूत्र मे पूर्वपक्ष दिखाया है और दूसरे सूत्र मे उसका उत्तर दिया है ।

उपमानो [की संख्या] के आधिक्य से उस [अप्रतीत-सादृश्यमूलक असादृश्य रूप उपमादोष] का परिमार्जन [अपोह-दूरीकरण] हो जाता है यह कुछ लोग कहते है ।

उपमान के [संख्याकृत] आधिक्य से उस असादृश्य [रूप उपमादोष] का [अपोह] परिमार्जन [दूरीकरण] हो जाता है ऐसा कुछ विद्वान् मानते

कर्पूरादिभिरुपमानैर्बहुभिः सादृश्यं यशसः सुस्थापितं भवति। तेषां शुक्लगुणातिरेकात् ॥ १८ ॥

नापुष्टार्थत्वात् । ४, २, १९ ।

उपमानाधिक्यात् तदपोह इति यदुक्तं तन्न । अपुष्टार्थत्वात् । एकस्मिन्नुपमाने प्रयुक्ते उपमानान्तरप्रयोगो न कञ्चिदर्थविशेषं पुष्णाति । तेन

'बलसिन्धुः सिन्धुरिव क्षुभितः'

इति प्रत्युक्तम् ।

है । जैसा—तुम्हारा यश कर्पूर, [मुक्ता] हार, और शिवहास के समान शुभ्र है ।

[इस उदाहरण मे] कर्पूर आदि अनेक उपमानो से यश का [उनके साथ शुक्लातिशय रूप] सादृश्य भली प्रकार स्थापित होता है । उन [कर्पूर, मुक्ताहार और हरहास-शिवहास्य] में शुक्ल गुण का बाहुल्य होने से [यश में भी उसी प्रकार का शुक्लातिशय है यह बात प्रतीत होती है । इस प्रकार उपमान के आधिक्य से असादृश्य का अपोह हो जाता है यह पूर्वपक्ष का अभिप्राय हुआ] ॥ १८ ॥

इस पूर्वपक्ष का उत्तर अगले सूत्र मे करते है ।

[आपका कहना] ठीक नही है । [उपमानो की संख्या में आधिक्य कर देने पर भी] अर्थ की पुष्टि [सम्भव] न होने से ।

उपमान [की संख्या में] का आधिक्य होने से उस [अप्रतीत गुणमूलक असादृश्य रूप उपमा-दोष] का परिमार्जन [अपोह, दूरीकरण] हो जाता है यह जो [पूर्वपक्षी ने] कहा है, वह ठीक नहीं है । [उपमानों की संख्यावृद्धि से] अर्थ की पुष्टि न होने से । एक उपमान के प्रयुक्त होने पर [यदि सादृश्य स्पष्ट रूप से प्रतीत नही होता है तो उसी प्रकार के] अन्य उपमानों का प्रयोग भी किसी अर्थविशेष का पोषक नही होता । [उन उपमानों की उस संख्यावृद्धि से भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता है] इसलिए—

'सैन्यसागर, सागर के समान क्षुब्ध हो गया ।'

यह [उदाहरण भी] खण्डित हो गया ।

इसका अभिप्राय यह है कि इस उदाहरण मे बल अर्थात् सैन्य की उपमा सिन्धु अर्थात् सागर से दी गई है । अर्थात् 'बल' उपमेय है और 'सिन्धु' उपमान है । परन्तु सिन्धु रूप उपमान का दो बार प्रयोग किया गया है । इसलिए इसमें

ननु सिन्धुशब्दस्य द्विः प्रयोगात् पौनरुक्त्यम् ।

न । अर्थविशेषात् । बलं सिन्धुरिव वैपुल्याद् बलसिन्धुः । सिन्धुरिव क्षुभितः इति क्षोभसारूप्यात् । तस्मादर्थभेदान्न पौनरुक्त्यम् । अर्थपुष्टिस्तु नास्ति । सिन्धुरिव क्षुभित इत्यनेनैव वैपुल्यं प्रतिपत्स्यते । उक्तं हि [1]'धर्मयोरेकनिर्देशेऽन्यस्य संवित् साहचर्यात्' ॥ १९ ॥

उपमान का सख्यागत आधिक्य हुआ इसलिए यहाँ असादृश्य रूप उपमा-दोष नही होता है । अर्थात् यहाँ असादृश्य के अपोह या निवारण के लिए ही सिन्धु रूप उपमान का दो बार प्रयोग किया गया है । यह पूर्व पक्ष का आशय हुआ । उत्तर पक्ष का कहना यह है कि यहाँ सिन्धु शब्द के दुवारा प्रयोग से अर्थ की कोई पुष्टि नही होती है इसलिए सिन्धु शब्द का दुवारा प्रयोग व्यर्थ और दोष-ग्रस्त ही है ।

इस पर शङ्का यह होती है कि अच्छा यदि सिन्धु शब्द के प्रयोग में दोष है तो वह पुनरुक्ति दोष हो सकता है । असादृश्य दोष नही हो सकता है । इसका भी सिद्धान्त पक्ष की ओर से खण्डन किया जा रहा है । उसका अभिप्राय यह है कि यहाँ सिन्धु शब्द का दो वार प्रयोग होने पर भी पुनरुक्ति दोष नही होता है क्योकि उन दोनो के अर्थ में भेद है । पहिली वार के प्रयोग से 'बल सिन्धुरिव बलसिन्धुः' इस से बल की विपुलता सूचित होती है । और 'सिन्धुरिव क्षुभित.' इस अश से क्षोभ बाहुल्य सूचित होता है इसलिए अर्थभेद होने से पुनरक्ति दोप तो नही है । किन्तु अपुष्टार्थता दोष अथवा तन्मूलक असादृश्य दोष ही कहा जा सकता है ।

[प्रश्न] 'सिन्धु' शब्द का ['बलसिन्धुः सिन्धुरिव क्षुभितः' इस उदाहरण में] दो बार प्रयोग होने से [इस श्लोक के अंश में] पुनरुक्ति दोष हो सकता है ।

[उत्तर] नहीं [यहाँ पुनरुक्ति दोष] अर्थभेद के कारण नही हो सकता है । 'बलं सिन्धुरिव' [इस विग्रह में] विपुलता [के सूचित] होने से 'बलसिन्धु' [बल अर्थात् सैन्य की विशालता को बोधित करता है] और 'सिन्धुरिव क्षुभितः' में [यह दूसरी वार सिन्धु शब्द का प्रयोग] क्षोभरूपता [का सूचक होने] से । [उन दोनो में अर्थभेद है] सलिए अर्थभेद होने से [सिन्धु रूप उपमान का दो वार प्रयोग होने पर भी] पुनरुक्ति नहीं है । किन्तु [उस

---

[1] काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ४, २, १० ।

अनुपपत्तिरसम्भवः ४, २, २० ।

अनुपपत्तिरनुपन्नत्वमुपमानस्यासम्भवः । यथा—

चकास्ति वदनस्यान्तः स्मितच्छायाविकासिनः ।
उन्निद्रस्यारविन्दस्य मध्ये मुग्धेव चन्द्रिका ॥

चन्द्रिकायामुन्निद्रत्वमरविन्दस्येत्यनुपपत्तिः । नन्वर्थविरोधोऽयमस्तु किमुपमादोषकल्पनया । न । उपमायामतिशयस्येष्टत्वात् ॥ २० ॥

दो बार के प्रयोग से] अर्थ की पुष्टि नही होती है । [इन दोनो में से पहली बार का सिन्धु शब्द का प्रयोग व्यर्थ है क्योंकि] 'सिन्धुरिव क्षुभितः' इससे ही [सैन्य की] विपुलता [और क्षोभ दोनो] की प्रतीति [प्रतिपत्ति] हो जावेगी । जैसा कि 'धर्मयोरेकनिर्देशोऽन्यस्य संवित् साहचर्यात्' [४, २, १० सूत्र में अभी] कह चुके है । [समुद्र का वैपुल्य और क्षोभ दोनो सहचरित धर्म है । उनमें से 'सिन्धुरिव क्षुभितः' कह कर जब क्षोभ का प्रतिपादन करते है तो उसके साथ वैपुल्य भी स्वयं प्रतीत हो जाता है । अतएव वैपुल्य सूचन के लिए प्रथम सिन्धु शब्द का प्रयोग व्यर्थ है और अपुष्टार्थ दोषग्रस्त है] ॥ १६ ॥

अगले दो सूत्रो में छठे उपमा-दोष 'असम्भव' का निरूपण करते है ।

[उपमान की] अनुपपत्ति [ही] 'असम्भव' [नामक उपमा-दोष] है ।

अनुपपत्ति [अर्थात्] उपमान का अनुपपन्नत्व 'असम्भव' [नामक छठा उपमा-दोष] है । जैसे—

खिले हुए कमल के भीतर सुन्दर चाँदनी के समान [नायिका के] खिले हुए मुख के भीतर मुस्कराहट की छाया चमक रही है ।

[इस उदाहरण में खिले हुए कमल के भीतर चाँदनी का वर्णन है । परन्तु चाँदनी में तो कमल खिलता ही नहीं । कमल तो दिन में खिलता है रात्रि में नही । ऐसे में चाँदनी का सम्बन्ध बताना अनुपपन्न है । क्योंकि] चाँदनी [खिलने के समय अर्थात् रात्रि] में कमल का खिलना अनुपपन्न है [इसलिए इस उपमा में असम्भवत्व दोष है] ।

[प्रश्न] यहाँ अर्थ-विरोध [नामक सामान्य दोष] मान लो, [असम्भव नामक] उपमा-दोष की कल्पना से क्या लाभ ?

[उत्तर] यह कहना ठीक नहीं है । क्योकि [इस प्रयोग से कवि को अपनी] उपमा में विशेषता [प्रतिपादन करना] इष्ट है । [इसलिए इसको सामान्य दोष न मान कर उपमा-दोष ही कहना चाहिए] ॥ २० ॥

कथं तर्हि दोष इत्यत आह—

न विरुद्धोऽतिशय. । ४, २, २१ ।

विरुद्धस्यातिशयस्य संग्रहो न कर्तव्य इति, अस्य सूत्रस्य तात्पर्यार्थः ।
तानेतान् षडुपमा-दोषान् ज्ञात्वा कविः परित्यजेत् ॥ २१ ॥

इति पण्डितवरवामनविरचितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ
'आलङ्कारिके' चतुर्थेऽधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः ।
उपमाविचारः ।

—o—

[प्रश्न] यदि 'उन्निद्रस्यारविन्दस्य मध्ये मुग्धेव चन्द्रिका' कह कर कवि अपनी उपमा में कुछ वैशिष्ट्य प्रतिपादन कर रहा है] तो फिर [यह] दोष कैसे होगा । [तब तो वह दोष नहीं गुण होगा । आप उसको दोष कैसे कहते है ?]

[उत्तर] विरुद्ध अतिशय [का प्रदर्शन] नहीं [करना] चाहिए ।

[अनुभव अथवा प्रकृति के] विरुद्ध अतिशय का वर्णन नहीं करना चाहिए । [यहाँ कवि ने उपमा में अतिशय लाने के लिए प्रकृतिविरुद्ध बात का संग्रह अपनी उपमा में कर दिया है इसलिए यह दोष हो गया है और वह उपमा दोष ही है] यह इस सूत्र का तात्पर्य है ॥

इन छः प्रकार के उपमा-दोषो को जान कर कवि उनका परित्याग [करने का प्रयत्न] करे ॥ २१ ॥

इति श्री पण्डितवरवामनविरचित काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में
चतुर्थ 'आलङ्कारिक' अधिकरण में द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ।
उपमा-विचार समाप्त हुआ ।

—oo;o;oo—

श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां
'काव्यालङ्कारदीपिकाया' हिन्दीव्याख्याया
चतुर्थे 'आलङ्कारिकाधिकरणे' द्वितीयोऽध्याय समाप्त. ।

———

'आलङ्कारिक' नाम्नि चतुर्थेऽधिकरणे
तृतीयोऽध्यायः
[उपमाप्रपञ्चविचारः]

चतुर्थाधिकरण में तृतीयाध्याय
[उपमा-प्रपञ्च का विचार]

चतुर्थ अधिकरण के प्रथम अध्याय में अनुप्रास तथा यमक रूप दो शब्दालङ्कारो का और द्वितीयाध्याय मे उपमालङ्कार का विचार करने के बाद अब इस तीसरे अध्याय में वामन अपने अभिमत अलङ्कारो का निरूपण प्रारम्भ करने जा रहे है। इन सब अलङ्कारो को वह उपमा का ही प्रपञ्चमात्र मानते है। इसलिए इस अध्याय मे उन्होने उपमा के प्रपञ्चभूत इन अलङ्कारो के निरूपण की प्रतिज्ञा की है। वामन के अभिमत इन अलङ्कारो की सख्या ३० है। उनका सग्रह काव्यालङ्कार-सूत्रवृत्ति के टीकाकार गोपेन्द्र त्रिपुरहर-भूपाल ने इस प्रकार किया है—

प्रतिवस्तुप्रभृतय उद्दिश्यन्ते यथाक्रमम् ।	
प्रतिवस्तु समासोक्तिरथाप्रस्तुतशसनम् ॥	३
अपह्नुती रूपकञ्च श्लेषो वक्रोक्त्यलंकृति. ।	४
उत्प्रेक्षाऽतिशयोक्तिश्च सन्देह सविरोधक· ॥	४
विभावनाऽनन्वयः स्यादुपमेयोपमा तत· ।	३
परिवृत्ति. क्रम. पश्चाद् दीपक च निदर्शना ॥	४
अर्थान्तरस्य न्यसन व्यतिरेकस्तत परम् ।	२
विशेषोक्तिरथ व्याजस्तुतिर्व्याजोक्त्यलकृतिः ॥	३
स्यात्तुल्ययोगिताक्षेप सहोक्तिश्च समासत ।	३
अथ ससृष्टिभेदौ द्वौ उपमारूपक तथा ॥	३
उत्प्रेक्षावयवश्चेति विज्ञेयोऽलकृतिक्रम ।	१
	३०

इस प्रकार वामन ने ३० प्रकार के अर्थालङ्कारो का निरूपण किया है। अनुप्रास तथा यमक दो प्रकार के शब्दालङ्कार इन से भिन्न है। उनको भी जोड देने पर वामनाभिमत काव्यालङ्कारो की कुल सख्या ३२ होवेगी।

अलङ्कारो की सख्या के विषय में प्राचीन समय से आलङ्कारिक आचार्यों

में बहुत मतभेद रहा है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में उपमा, रूपक, दीपक और यमक केवल इन चार ही अलङ्कारो का वर्णन किया है। वामन ने ३० अर्थालङ्कार और २ शब्दालङ्कार मिला कर कुल ३२ अलङ्कारो का निरूपण किया है। दण्डी ने ३५ ही अलङ्कारो का निरूपण किया है। परन्तु इनके पूर्ववर्ती भामह ने ३९ प्रकार के और उद्भट ने ४० प्रकार के अलङ्कारो का वर्णन किया है। इनके उत्तरवर्ती रुद्रट ने ५२ प्रकार के, उसके आगे काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य ने ६७, उनके बाद जयदेव ने अपने 'चन्द्रालोक' मे १०० और उनके भी व्याख्याकार अप्पय दीक्षित ने अपने 'कुवलयानन्द' नामक ग्रन्थ में १२४ अलङ्कारो का निरूपण किया है। इस प्रकार, भरतमुनि के प्रारम्भिक चार अलङ्कारो से बढकर अप्पय दीक्षित के समय में अलङ्कारो की संख्या १२४ तक पहुँच गई है। हमने अपने 'साहित्य-मीमांसा' नामक ग्रन्थ मे अलङ्कारो की इस सख्यावृद्धि का निरूपण इस प्रकार से किया है—

[1]दृष्टा वेदेऽप्यलङ्कारास्तूपमारूपकादय. ।
भूतोपमादिभेदेन यास्केनापि निरूपिता ॥ १ ॥
शिलालेर्नटसूत्राणामुल्लेखः पाणिनिकृत ।
सूचयत्यस्य शास्त्रस्य प्रत्नता पाणिनेरपि ॥ २ ॥
तथापि प्रत्न भरतात् साहित्य नोपलभ्यते ।
तस्मात् तदादि विज्ञेया धारा साहित्यिकी त्वियम् ॥ ३ ॥
यथोत्तर च धाराणा ग्रन्थाना च प्रवेशत. ।
सरितामिव वेगेन वर्द्धतेऽस्या. कलेवरम् ॥ ४ ॥
उपमा रूपकञ्चैव दीपक यमक तथा ।
चत्वार एवालङ्कारा भरतेन निरूपिताः ॥ ५ ॥
वामनेन च द्वात्रिंशद् भेदास्तस्य निरूपिता. ।
पञ्चत्रिंशद्विधश्चाय दण्डिना प्रतिपादित ॥ ६ ॥
नवत्रिंशद्विध पूर्वं भामहेन प्रदर्शित. ।
चत्वारिंशद्विधश्चैव उद्भटेन प्रकीर्तित. ॥ ७ ॥
द्विपचाशद्विध प्रोक्तो रुद्रटेन तत. परम् ।
सप्तषष्टिविध. प्रोक्त प्रकाशे मम्मटेन च ॥ ८ ॥

---

[1]- साहित्य-मीमांसा ।

सम्प्रत्युपमाप्रपञ्चो विचार्यते । कः पुनरसावित्याह—

प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपञ्चः । ४, ३, १ ।

प्रतिवस्तु प्रभृतिर्यस्य स प्रतिवस्तुप्रभृतिः । उपमायाः प्रपञ्च उपमा-प्रपञ्च इति ॥ १ ॥

शतधा जयदेवेन विभक्तो, दीक्षितेन च ।
कृता भेदा पुनस्तस्य सशत चतुर्विंशतिः ॥ ६ ॥

इस प्रकार साहित्यशास्त्र के आकर ग्रन्थो में भी अलङ्कारो की सख्या के विषय मे बहुत भेद पाया जाता है । इन आचार्यों में से प्रकृत ग्रन्थकार श्री वामन ने दो शब्दालङ्कारो के अतिरिक्त ३० अर्थालङ्कारो को माना है । इस अध्याय में उन्ही ३० अर्थालङ्कारों का वर्णन है ।

अब उपमा के प्रपञ्च [भूत ३० प्रकार के अर्थालङ्कारों] का विचार किया जाता है । वह [उपमा प्रपञ्च] कौन सा [कौन कौन से अलङ्कार इस उपमा प्रपञ्च में सम्मिलित होते] है यह [प्रथम सूत्र में] कहते है ।

प्रतिवस्तु [प्रतिवस्तूपमा] इत्यादि [आगे कहे जाने वाले ३० अलङ्कार] उपमा का प्रपञ्च [कहे जाते] है ।

प्रतिवस्तु [प्रतिवस्तूपमा] जिस के आदि में है वह [तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि समास मान कर प्रतिवस्तूपमा सहित ३० अर्थालङ्कार] 'प्रतिवस्तु-प्रभृति' हुए । उपमा का प्रपञ्च [विस्तार] उपमा प्रपञ्च [यह षष्ठी तत्पुरुष समास से] है । [प्रतिवस्तु प्रभृति वह ३० अर्थालङ्कार हम अभी ऊपर दिखला चुके है] ॥१॥

अगले सूत्र से इस उपमा-प्रपञ्च का निरूपण प्रारम्भ करते हुए सबसे पहिले 'प्रतिवस्तूपमा' का लक्षण करते है । 'प्रतिवस्तूपमा' उपमा का ही प्रपञ्च है इसलिए उपमा के अन्य भेदो से उसका जो विशेष भेद है उसको दिखलाते हुए उसका लक्षण करेगे । अभी पिछले अध्याय मे पदार्थ और वाक्यार्थवृत्ति उपमा के दो भेद किए थे । उनमें से 'प्रतिवस्तूपमा' और 'वाक्यार्थ उपमा' मे बहुत कुछ सादृश्य होने से उन दोनो के विशेष भेद को प्रदर्शित करने की आवश्यकता समझ कर ग्रन्थकार 'वाक्यार्थ उपमा' से 'प्रतिवस्तूपमा' का भेद दिखाते हुए उसका लक्षण करते है—

'उन्मिमील कमल सरसीनां कैरवञ्च निमिमील मुहूर्तात् ।'
अत्र नेत्रधर्मावुन्मीलननिमीलने सादृश्याद् विकाससङ्कोचौ लक्षयतः ।

'इह च निरन्तरनवमुकुलपुलकिता हरति माधवी हृदयम् ।
मदयति च केसराणां परिणतमधुगन्धि निःश्वसितम् ॥'

अत्र नि श्वसितमिति परिमलनिर्गमं लक्षयति ।

'संस्थानेन स्फुरतु सुभगः स्वार्चिषा चुम्बतु द्याम् ।'
'आलस्यमालिङ्गति गात्रमस्याः' ।

इत्यादि वचनो के अनुसार] लक्षणा के अनेक कारण होते है । उन [अनेक कारणो] में सादृश्य [नामक कारण] से [की गई] लक्षणा [ही] 'वक्रोक्ति' [नामक अलङ्कार] है । जैसे—

[प्रातःकाल के समय सूर्योदय होते ही] तनिक देर में तालाबों के कमल खिल गए और क्षण भर में कैरव बन्द हो गए ।

यहां नेत्र के धर्म उन्मीलन तथा निमीलन सादृश्य से [कमलों के] विकास तथा सङ्कोचन को लक्षणा से बोधित करते है । [अतएव सादृश्यमूलक लक्षणा होने से 'वक्रोक्ति' अलङ्कार है । इसी का दूसरा उदाहरण देते है]

यहां [उद्यान में] ऊपर से नीचे तक [निरन्तर] नवीन कलियो से [लदी हुई] पुलकित माधवी [लता दर्शको के] हृदय को हरण कर रही है और केसर [वृक्षविशेष] का पके मधु की गन्ध से युक्त निश्वास मत्त सा कर देता है ।

यहा [इस उदाहरण में] निःश्वसित [मुख्य रूप से प्राणी का धर्म है परन्तु वह सादृश्यनिमित्तक लक्षणा से] सुगन्ध के निकलने को लक्षित करता है । [इसी प्रकार के और भी बहुत से उदाहरण हो सकते है जिनमें सादृश्य से लक्षणा का आश्रय लिया जाता है । उनमें से पाच उदाहरण आगे देते है] ।

अपने संस्थान [आकार कलेवर] से सुन्दर रूप से प्रकाशित हो और अपनी कान्ति से आकाश का चुम्बन करे । [इसमें 'चुम्बन' पद सादृश्य लक्षणा से स्पर्श को लक्षित करता है] ।

आलस्य उसके शरीर का आलिङ्गन कर रहा है । [इसमें आलस्य का शरीर को आलिङ्गन करना लक्षणा से शरीर में आलस्य की व्याप्ति को सूचित करता है] ।

'पर्यम्लानच्छायामनुवदति दृष्टिः कमलिनीम् ।'
'प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः ।'
'ऊरुद्वन्द्वं तरुणकदलीकाण्डसब्रह्मचारि ।'

इत्येवमादिषु लक्षणार्थो निरूप्यत इति । लक्षणायाश्च झटित्यर्थ-प्रतिपत्तिक्षमत्वं रहस्यमाचक्षत इति ।

असादृश्यनिबन्धना तु लक्षणा न वक्रोक्तिः । यथा—

'जरठकमलकन्दच्छेदगौरैर्मयूखैः ।'

अत्र 'छेदः' सामीप्याद् द्रव्यं लक्षयति । तस्यैव गौरत्वोप-पत्तेः ॥ ८ ॥

[दुःखित नायिका की] दृष्टि मुरझाई हुई कमलिनी के समान है । [यहां 'अनुवदति' पद सादृश्य लक्षणा से कमलिनी के साथ समानता का सूचक है] ।

प्रात.काल के समय में खिले हुए कमलो के सुगन्ध के साथ मैत्री के कारण कषाय [वायु चल रहा है । इसमें 'मैत्री' पद सादृश्य लक्षणा से संसर्ग को लक्षित करता है] ।

[नायिका की] दोनों जघाएं तरुण कदली काण्ड की सहाध्यायिनी है । [यहां 'सब्रह्मचारि' पद लक्षणा से सादृश्य को लक्षित करता है] ।

इत्यादि [उदाहरणो] में [धर्म की प्रतीति के लिए] लक्षणा से अर्थ का कथन किया जाता है । लक्षणा के होने पर तुरन्त अर्थ की प्रतीति की क्षमता आ जाती है यही लक्षणा का रहस्य [लक्षणा अथवा वक्रोक्ति अलङ्कार मानने वाले] कहते है ।

असादृश्य [सादृश्य से भिन्न] निमित्तक लक्षणा 'वक्रोक्ति' नहीं कहलाती । जैसे—

पुराने [पके हुए] कमल की जड़ [भसीण्डे, मृणालदण्ड] के टुकड़े के समान [गौर] सफेद किरणो से ।

यहां 'छेद' [पद] सामीप्य [अर्थात् धर्मधर्मिभाव सम्बन्ध] से [खण्डरूप] द्रव्य को लक्षित करता है । उस [खण्ड रूप द्रव्य] में ही गौरत्व सम्भव होने से [इसका अभिप्राय यह है कि 'छेद' शब्द मुख्य रूप से छेदन-क्रिया का बोधक है । परन्तु यहां वह छेदन-क्रिया का आधारभूत या कर्मभूत

यथा वा—

[1]विहाय साहारमहार्यनिश्चया विलोलदृष्टिः प्रविलुप्तचन्दना ।
बबन्ध बालारुणबभ्रु वल्कलं पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति ॥ १६ ॥

अथवा जैसे—

उस दृढ़ निश्चय वाली और चन्दन [आदि शृङ्गार या लेपन द्रव्य] से रहित चपलनयनी [पार्वती] ने [शिव प्राप्ति की तपस्या के लिए] भोजन छोड कर [निराहार व्रत करके] प्रात कालीन सूर्य के समान अरुण वर्ण और स्तनों की उठान के कारण [वक्षः स्थल पर] जिसकी सन्धि खुली जा रही है इस प्रकार के वल्कल [वस्त्र] को धारण किया ।

इन दोनो उदाहरणो में से पहले उदाहरण में सम से विनिमय और दूसरे में विसदृश से विनिमय दिखलाया गया है। पहले श्लोक में चरण, किसलय के समान है इसलिए उन दोनो का साम्य होने से समविनिमय का उदाहरण है। नायिका ने कर्ण किसलय लेकर उसको चरण अर्पण किया किस प्रकार किया इसके उपपादन के लिए कामशास्त्र के 'प्रसारितक' नामक करण विशेष का निर्देश टीकाकार ने किया है। वात्स्यायन 'काम-सूत्र' में—

नायकस्यासे एको द्वितीय प्रसारित इति प्रसारितकम् ।

यह 'प्रसारितक' का लक्षण किया है। 'रति-रहस्य' में इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

प्रियस्य वक्षोऽसतल शिरोधरां नयेत सव्य चरण नितम्बिनी ।
प्रसारयेद् वा परमायत पुनर्विपर्यय स्यादिति हि प्रसारितम् ॥

कामशास्त्र के इस 'प्रसारित' नामक करण के द्वारा चरण और कर्ण किसलय का विनिमय हो सकता है।

दूसरे श्लोक में भोजन का परित्याग कर उसके बदले में वल्कल को धारण किया यह जो विनिमय दिखलाया गया है। उसमें वल्कल तथा भोजन मे कोई साम्य नही है। इसलिए वह विसदृश विनिमय का उदाहरण है।

भामह ने इस परिवृत्ति अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार किया है—

[2]विशिष्टस्य यदादानमन्यापोहेन वस्तुन ।
अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्तिरसौ यथा ॥

---

[1] कुमारसम्भव ५, ८ में 'विहाय' के स्थान पर 'विमुच्य' पाठ है।

[2] भामह काव्यालङ्कार ३, ३९ ।

उपमेयोपमायाः क्रमो भिन्न इति दर्शयितुमाह—

उपमेयोपमानानां क्रमसम्बन्धः क्रमः । ४, ३, १७ ।

---

[1]प्रदाय वित्तमर्थिभ्य. स यशोधनमदित. ।
सता विश्वजनीनानामिदमस्खलित व्रतम् ॥ ४० ॥

अर्थात् भामह के अनुसार परिवृत्ति अलङ्कार के साथ 'अर्थान्तरन्यास' भी अवश्य रहना चाहिए । इसी बात को बोधन करने के लिए उन्होने परिवृत्ति के लक्षण में स्पष्ट रूप से 'अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्ति' यह लिख दिया है । और उसका उदाहरण भी उसी प्रकार का दिया है । परन्तु वामन तथा उत्तरवर्ती आचार्यो ने परिवृत्ति के साथ 'अर्थान्तरन्यास' का होना आवश्यक नही माना है । साहित्यदर्पणकार ने परिवृत्ति का लक्षण इस प्रकार किया है—

[2]परिवृत्तिर्विनिमय समन्यूनाधिकैर्भवेत् ।

अर्थात् परिवृत्ति या विनिमय सम, न्यून और अधिक तीनो के साथ हो सकता है । वामन ने जिस 'विसदृश' इस एक भेद के अन्तर्गत न्यून और अधिक दोनो का सग्रह कर लिया था, साहित्यदर्पणकार ने न केवल उसको न्यून और अधिक करके दो भागो में विभक्त कर दिया है । अपितु उस 'विसदृश' की जिसमें न्यून और आधिक्य की नही अपितु केवल भेद की ही प्रधानता थी न्यूनाधिकपरक व्याख्या करके कुछ नूतनता भी प्रदर्शित की है । तीनो प्रकार की परिवृत्ति के उदाहरण इस प्रकार दिए है—

दत्त्वा कटाक्षमेणाक्षी जग्राह हृदय मम ।
मया तु हृदय दत्त्वा गृहीतो मदनज्वर ॥

इसके प्रथम चरण में सम से और द्वितीय चरण में न्यून से विनिमय दिखलाया है ।

तस्य च प्रवयसो जटायुष· स्वर्गिणः किमिव शोच्यतेऽधुना ।
येन जर्जरकलेवरव्ययात् श्रोतमिन्दुकिरणोज्ज्वलं यशः ॥

इसमें अधिक से विनिमय किया गया है ।

[पूर्व कहे हुए] उपमेयोपमा [अलङ्कार] से 'क्रम' [यथासंख्य अलङ्कार] भिन्न है इस बात को दिखलाने के लिए [अगले सूत्र में 'क्रम' जिसे अन्य लोग 'यथासंख्य' नाम से कहते है, का लक्षण] कहते है—

उपमान और उपमेयों का क्रम से सम्बन्ध [प्रदर्शित करना] 'क्रम' [नामक अलङ्कार होता] है ।

---

[1] भामह काव्यालङ्कार ३, ४० । [2] साहित्यदर्पण १०, ८१ ।

व्यतिरेकविशेषोक्तिभ्यां व्याजस्तुतिं भिन्नां दर्शयितुमाह—

सम्भाव्यविशिष्टकर्माकरणान्निन्दा स्तोत्रार्था व्याजस्तुतिः। ४, ३, २४।

अत्यन्तगुणाधिको विशिष्टः। तस्य च कर्म विशिष्टकर्म। तस्य सम्भाव्यमानस्य कर्तुं शक्यस्याकरणान्निन्दा विशिष्टसाम्यसम्पादनेन स्तोत्रार्था व्याजस्तुतिः। यथा—

बबन्ध सेतुं गिरिचक्रवालैर्बिभेद सप्तैकशरेण तालान्।
एवंविधं कर्म ततान रामस्त्वया कृतं तन्न मुधैव गर्वः॥ २४॥

व्यतिरेक और विशेषोक्ति से व्याजस्तुति को अलग दिखलाने के लिए [अगले सूत्र में उसका लक्षण] कहते हैं—

कर सकने योग्य [सम्भाव्य] विशिष्ट [पुरुष के] कर्म के न करने से [वस्तुतः] स्तुति के लिए जो निन्दा करना है वह व्याजस्तुति [अलङ्कार कहलाता] है।

गुणो में [उपमेय की अपेक्षा] अत्यन्त अधिक [पुरुष] विशिष्ट [पुरुष] कहलाता है। उसका कर्म विशिष्ट कर्म [यह षष्ठी तत्पुरुष समास] हुआ। उस सम्भाव्य अर्थात् कर सकने योग्य [कर्म] के न करने से [जो] निन्दा [उस] विशिष्ट के साथ साम्य सम्पादन द्वारा [उपमेय की वास्तविक] स्तुति के लिए [की जाय] वह व्याजस्तुति [अलंकार कहलाता] है। जैसे—

[रामचन्द्र ने] पर्वतो [के पत्थरों] के समूह से [समुद्र का] पुल बांधा, एक बाण से सात ताल वृक्षो का भेदन किया। इस प्रकार के [आश्चर्य जनक] कर्म रामचन्द्र ने किए थे। तुमने उनमें से एक भी नहीं किया फिर व्यर्थ ही गर्व क्यों करते हो।

यहा रामचन्द्र के किए हुए विशिष्ट कर्मो के न करने से राजा की ऊपरी तौर से निन्दा की गई है। परन्तु उससे राजा का राम के साथ सादृश्य अभीष्ट है इसलिए यहा निन्दा के स्तुतिपरक होने से 'व्याज स्तुति' है।

भामह ने इस 'व्याज स्तुति' अलङ्कार का निरूपण इस प्रकार किया है—

[1]दूराधिकगुणस्तोत्रव्यपदेशेन तुल्यताम्।
किञ्चिद् विधित्सोर्या निन्दा व्याजस्तुतिरसौ यथा॥

---

[1] भामह काव्यालंकार ३, ३१।

व्याजस्तुतेर्व्याजोक्ति भिन्नां दर्शयितुमाह—

- व्याजस्य सत्यसारूप्यं व्याजोक्तिः । ४, ३, २५ ।

- व्याजस्य छद्मना सत्येन सारूप्यं व्याजोक्तिः । यां मायोक्तिरित्याहुः । यथा—

---

[1]राम. सप्ताभिनत् तालान् गिरिं क्रौञ्च भृगूत्तम ।
शताशेनापि भवता किं तयो सदृश कृतम् ॥

भामह तथा वामन दोनो ने केवल स्तुति के लिए की जाने वाली निन्दा को 'व्याजस्तुति' कहा है । परन्तु मम्मट विश्वनाथ आदि आचार्यो ने निन्दा के लिए की जाने वाली स्तुति को भी 'व्याजस्तुति' कहा है । साहित्यदर्पण मे 'व्याजस्तुति' का निरूपण इस प्रकार किया है—

[2]उक्ता व्याजस्तुति पुन ।
निन्दास्तुतिभ्या वाच्याभ्या गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयो ॥

स्तुति से गम्यमान निन्दा का उदाहरण निम्न श्लोक दिया है—

व्याजस्तुतिस्तव पयोद मयोदितेय
यज्जीवनाय जगतस्तव जीवनानि ।'
स्तोत्र तु ते महदिद घन धर्मराज-
साहाय्यमर्जयसि यत् पथिकान्निहत्य ॥

यहा मेघ की वास्तविक स्तुति यह बतलाई गई है कि वह वियोगियो को मार कर धर्मराज-यम-का सहायक होता है । यह देखने मे भले ही स्तुति हो परन्तु वह वस्तुत उसकी 'निन्दा' ही है । इसलिए यह 'व्याजस्तुति' कही गई है ॥२४॥

व्याजस्तुति से व्याजोक्ति भिन्न [अलङ्कार] है [उसको दिखलाने के लिए [अगले सूत्र में व्याजोक्ति का लक्षण] कहते है—

व्याज [बहाने से कही हुई बात] का सत्य के साथ सारूप्य [प्रदर्शित करना] व्याजोक्ति [अलङ्कार कहलाता] है ।

असत्य [व्याज] के बहाने से सत्य का सादृश्य [प्रतिपादन करना] व्याजोक्ति [अलकार कहलाता] है । जिसको अन्य लोग 'मायोक्ति' कहते है । [उसका उदाहरण] जैसे—

---

[1]भामह काव्यालङ्कार ३, ३२ ।
[2] साहित्यदर्पण १०, ६० ।

शरच्चन्द्रांशुगौरेण वाताविद्धेन भामिनि ।
काशपुष्पलवेनेदं साश्रुपातं मुखं कृतम् ॥ २५ ॥

व्याजस्तुतेः पृथक् तुल्ययोगितेत्याह—

शरच्चन्द्र की किरणो के समान शुभ्र, वायु से लाए गए, काशपुष्प के तिनके ने [आंख में पड़ कर] यह मुख अश्रुपातयुक्त कर दिया ।

यहा सात्विक भाव से होने वाले अश्रुपात को काशपुष्प के तिनके के आख मे पड जाने से होने वाला अश्रुपात कह कर सत्य को छिपाने का यत्न किया गया है । इसलिए यहा व्याजोक्ति अलकार है । नवीन आचार्यो ने जो छिपाने योग्य बात किसी प्रकार दूसरे पर प्रकट हो जाय उसको किसी बहाने से छिपाने के प्रयत्न को व्याजोक्ति अलकार कहा है । विश्वनाथ ने उसका लक्षण इस प्रकार किया है—

[1]व्याजोक्तिर्गोपन व्याजादुद्भिन्नस्यापि वस्तुन. ।

जैसे—

शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लस—
द्रोमाञ्चादिविसष्ठुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुलः ।
आः शैत्य तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं
शैलान्त पुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद् व शिवः ॥

यहा शिव और पार्वती के विवाह के अवसर पर कन्यादान करने के समय, पार्वती के हाथ का शिव के हाथ से स्पर्श होने से उनके भीतर कम्प आदि सात्विक भावो के उदय होने के कारण जब विधि में गड-बड होने लगी तो अपने सात्विक भाव जन्य कम्पादि को छिपाने के लिए शिव जी पर्वतराज के हाथो की शीतलता का आश्रय लेते है । 'आः शैत्य तुहिनाचलस्य करयो' कह कर उस सात्विक भाव रूप यथार्थ कम्प को छिपाने का प्रयत्न किया गया है । इसलिए यहा व्याजोक्ति अलङ्कार है । वामन के लक्षण का भी अभिप्राय यही है । पर वह उतना स्पष्ट नही हुआ है ॥ २५ ॥

व्याजस्तुति से तुल्ययोगिता [अलङ्कार] पृथक् है यह [दिखलाने के लिए अगले सूत्र में तुल्ययोगिता का लक्षण] कहते है—

---

[1] साहित्यदर्पण १०, ९२ ।

विशिष्टेन साम्यार्थमेककालक्रियायोगस्तुल्ययोगिता ।

४, ३, २६ ।

विशिष्टेन न्यूनस्य साम्यार्थमेककालायां क्रियायां योगस्तुल्ययोगिता । यथा—

जलधिरशनामिमां धरित्रीं वहति भुजङ्गविभुर्भवद्भुजश्च ॥१६॥

विशिष्ट [अधिक गुण' वाले उपमान] के साथ [न्यून गुण वाले उपमेय के] साम्य [प्रतिपादन] के लिए [उन दोनो का] एक काल [एक साथ] होने वाली क्रिया के साथ योग [सम्बन्ध प्रदर्शित करना] तुल्ययोगिता [नामक अलङ्कार कहलाता] है ।

विशिष्ट [अधिक गुण वाले उपमान] के साथ न्यून गुण [वाले उपमेय] के साम्य के [प्रतिपादन] के लिए [उन दोनो का] एक [काल में होने वाली क्रिया में योग [तुल्यकालीन क्रिया में योग होने के कारण] 'तुल्य योगिता' अलङ्कार [कहलाता] है । जैसे—

समुद्ररूप रशना को धारण किए हुई [चारों ओर समुद्र से घिरी हुई] इस पृथिवी को सर्पराज [शेषनाग] और आपकी भुजा [यह दोनो] धारण करते हैं ।

यहा तुम्हारी भुजा शेषनाग के समान है इस प्रकार विशिष्ट अर्थात् अधिक गुण वाले उपमानभूत शेषनाग के साथ साम्य दिखलाने के लिए भूमि के धारण करने रूप तुल्य क्रिया, एककालीन क्रिया के साथ उन दोनो का योग किया गया है । 'धरित्री वहति भुजगविभुर्भवद्भुजश्च ।' इस प्रकार उपमानभूत शेषनाग और उपमेय भूत भुजा के साथ एक तुल्य धर्म का योग होने से यहा तुल्ययोगिता अलकार है ।

भामह ने तुल्ययोगिता अलकार का जो निरूपण किया है । उसके अनुसार तुल्ययोगिता के लक्षण और उदाहरण इस प्रकार होगे—

[1] न्यूनस्यापि विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया ।
तुल्यकार्यक्रियायोगादित्युक्ता तुल्ययोगिता ॥
शेषो हिमगिरिस्त्वञ्च महान्तो गुरव स्थिरा. ।
यदलघितमर्यादाश्चलन्ती विभृथ क्षितिम् ॥

---

[1] भामह काव्यालङ्कार ३, २७-२८ ।

उपमानाक्षेपश्चाक्षेप· । ४, ३, २७ ।

उपमानस्याक्षेपः प्रतिषेधः उपमानाक्षेपः । तुल्यकार्यार्थस्य नैरर्थक्य-विवक्षायाम् यथा—

तस्याश्चेन्मुखमस्ति सौम्यसुभगं किं पार्वणेनेन्दुना,
सौन्दर्यस्य पदं दृशौ यदि च ते किं नाम नीलोत्पलैः ।
किं वा कोमलकान्तिभिः किसलयैः सत्येव तत्राधरे,
हा धातुः पुनरुक्तवस्तुरचनारम्भेष्वपूर्वो ग्रहः ॥

मम्मट, विश्वनाथ आदि नवीन आचार्यों ने अपने लक्षणो मे विशेष बात यह कही है कि जिन पदार्थों मे एक धर्म का सम्बन्ध वर्णन किया जाय वह सब या तो प्रस्तुत अर्थात् वर्ण्य हो अथवा सब अप्रस्तुत हो । यदि उनमे से कोई पदार्थ प्रस्तुत तथा कोई अप्रस्तुत होगा तो वहा 'तुल्ययोगिता' नही अपितु 'दीपक' अलङ्कार होगा । साहित्यदर्पण मे लिखा है—

[1] पदार्थाना प्रस्तुतानामन्यपा वा यदा भवेत् ।
एकधर्माभिसम्बन्ध. स्यात् तदा तुल्ययोगिता ॥

प्रस्तुत पदार्थो के एक धर्माभिसम्बन्धरूप तुल्ययोगिता का उदाहरण—

अनुलेपनानि कुसुमान्यवला. कृतमन्यव. पतिपु दीपदशा: ।
समयेन तेन सुचिर शयितप्रतिवोधितस्मरमवोधिपत ॥

इसमे सन्ध्या काल का वर्णन है अतएव अनुलेप, कुसुम, अवला, दीपदशा यह सब ही वर्ण्य प्रस्तुत है । उन सब मे प्रबोधन रूप एक धर्म का सम्बन्ध होने मे तुल्ययोगिता अलकार हुआ । अप्रस्तुत पदार्थो के एक धर्माभिसम्बन्ध-रूप तुल्ययोगिता का उदाहरण—

तदङ्गमार्दव द्रष्टु. कस्य चित्ते न भासते ।
मालतीशशभृल्लेखाकदलीना कठोरता ॥

यहा मालती आदि सभी अप्रस्तुत पदार्थो मे कठोरता रूप एकधर्माभि-सम्बन्ध होने से तुल्ययोगितालङ्कार है ॥ २६ ॥

उपमान का आक्षेप [प्रतिषेध] आक्षेप [अलंकार] है ।

उपमान का आक्षेप अर्थात् प्रतिषेध उपमानाक्षेप [कहलाता] है । तुल्य कार्य वाले अर्थ की निरर्थकता की विवक्षा होने पर [यह आक्षेप अलङ्कार होता है] । जैसे—

---

[1] साहित्यदर्पण १०, ४८ ।

उपमानस्याक्षेपतः प्रतिपत्तिरित्यपि सूत्रार्थः ।

यथा—

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद् दधानार्द्रनखक्षताभम् ।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकञ्चकार ॥

अत्र शरद् वेश्येव, इन्दुं नायकमिव, रवेः प्रतिनायकस्येव इत्युपमानानि गम्यन्ते इति ॥ २७ ॥

यदि उस [नायिका] का सौम्य और सुन्दर मुख विद्यमान है तो फिर [उसी के समान कार्य करने वाले] पूर्णिमा के चन्द्रमा से क्या लाभ । और यदि सौन्दर्य के निधानभूत [उस नायिका के] नेत्र विद्यमान हैं तो [उसी के समान] नील कमलो से क्या लाभ । और वहां [उस मुख में] यदि अधर विद्यमान हैं तो फिर [उसके सदृश ही] कोमल कान्ति वाले किसलयो से क्या प्रयोजन । [इन सब की रचना बिल्कुल व्यर्थ है । लेकिन फिर भी विधाता ने इनको रचा है ।] खेद है कि विधाता को पुनरुक्त [व्यर्थ] वस्तुओ के बनाने का [ऐसा] अपूर्व आग्रह [शौक] है ।

यहा तुल्यकार्यकारी चन्द्र, नीलोत्पल, किसलय आदि उपमानो के आनर्थक्य का प्रतिपादन किया गया है । अतएव यहा आक्षेपालकार है ।

उपमान की आक्षेप से [अर्थतः] प्रतिपत्ति [ज्ञान] भी [आक्षेप अलंकार कहा जा सकता है यह इस] सूत्र का अर्थ [हो सकता] है ।

जैसे [निम्न श्लोक में]—

[पाण्डु] शुभ्रवर्ण के मेघो के ऊपर [दूसरे पक्ष में स्तनो के ऊपर] ताजे नखक्षतो के समान इन्द्र धनुष को धारण किए हुए [शरद ऋतु, दूसरे पक्ष में नायिका] कलंकी [कलंकयुक्त, दूसरे पक्ष में पराङ्गनोपभोग रूप कलंक से युक्त] चन्द्र को, निर्मल करती [दूसरे पक्ष में मनाती] हुई शरद् [ऋतु, दूसरे पक्ष में नायिका] ने [नायक रूप] सूर्य के ताप [दूसरे पक्ष में धूप की तीव्रता] को और अधिक कर दिया ।

इस में शरद् वेश्या के समान, इन्दु नायक के समान और सूर्य प्रतिनायक के समान यह उपमान [आक्षेप से] प्रतीत होते हैं । [इसलिए यहां दूसरे प्रकार का आक्षेप अलंकार है] ।

नवीन आचार्यो ने दूसरे प्रकार के इस 'आक्षेप' को 'समासोक्ति' अलकार माना है, आक्षेप नही । समासोक्ति का लक्षण विश्वनाथ ने—

[1]समासोक्ति समैर्यत्र कार्यलिगविशेषणै ।
व्यवहारसमारोप. प्रकृतेऽन्यस्य वस्तुन ॥

इस प्रकार किया है । यहा समान कार्य और लिग से शरद् मे वेश्या अथवा नायिका और सूर्य तथा चन्द्रमा मे नायक प्रतिनायकादि के व्यवहार का आरोप होने से नवीन मत मे यह 'समासोक्ति' का उदाहरण है, 'आक्षेप' का नही । आक्षेप अलङ्कार का लक्षण नवीन आचार्यो ने बिल्कुल भिन्न प्रकार से इस प्रकार किया है—

[2]वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये ।
निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा ॥

अर्थात् जो बात कहना चाहते हो परन्तु उसमे विशेषता लाने के लिए उसका निषेध सा किया जाय उसको 'आक्षेप' अलकार कहते है । यह निषेध कही बात को कह चुकने के बाद कही हुई बात का किया जाता है । और कही आगे कही जाने वाली बात का कहे बिना पहिले ही निषेध कर दिया जाता है । इस प्रकार के निषेधसे बात की विशेषता बढ जाती है । उसी विशेष प्रतिपत्ति के लिए निषेधसा किया जाता है । इन दोनो प्रकार के आक्षेपो के उदाहरण निम्न प्रकार है—

स्मरशरशतविधुराया भणामि सख्या कृते किमपि ।
क्षणमिह विश्रम्य सखे निर्दयहृदयस्य कि वदाम्यथवा ॥

यहा विरहिणी की व्यथा का सामान्यत· सूचन करने के बाद 'निर्दय-हृदयस्य किं वदाम्यथवा' कह कर उसका निषेध किया गया है । इसलिए यहा उक्तविषयक 'आक्षेप' अलङ्कार है । वक्ष्यमाण विषयक 'आक्षेप' का उदाहरण इस प्रकार दिया गया है—

तव विरहे हरिणाक्षी निरीक्ष्य नवमालिका दलिताम् ।
हन्त नितान्तमिदानीमा. किं हत जल्पितैरथवा ॥

यहा 'मरने वाली है' यह अश नही कहा है उसी वक्ष्यमाण अश का निषेध किया गया है । अतएव यह दूसरे प्रकार का 'आक्षेप' अलङ्कार है ।

इन दो भेदो के अतिरिक्त अनिष्ट अर्थ का विध्याभास रूप एक तीसरे प्रकार के आक्षेप अलङ्कार का निरूपण भी साहित्यदर्पणकार ने किया है—

[3]अनिष्टस्य तथार्थस्य विध्याभासः परो मत ।

---

[1] सा० द० १०, ५६ । [2] सा० द० १०, ६५ । [3] सा० द० १०, ६६ ।

इस अनिष्ट अर्थ की विध्याभासता रूप 'आक्षेप' अलङ्कार का उदाहरण इस प्रकार है—

गच्छ गच्छसि चेत् कान्त पन्थान सन्तु ते शिवा ।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान् ॥

यहा प्रिय का परदेश गमन नायिका को अनिष्ट है। तुम्हारे चले जाने पर मै जीवित नही रह सकूगी यह कह कर वह उसको रोकना चाहती है। परन्तु ऊपर से 'गच्छ गच्छसि चेत् कान्त' कह कर जाने को कह रही है। साथ ही 'ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान्' कह कर अपने भावी मरण की सूचना दे रही है। इस प्रकार यहां गमन का विधान वस्तुत विधि रूप नही अपितु विध्याभास रूप है। इसलिए 'आक्षेप' अलङ्कार है। इस प्रकार नवीन आचार्यो ने 'आक्षेप' अलङ्कार के तीन भेद माने है। परन्तु वह सब हो वामन के 'आक्षेप' के लक्षण से विल्कुल भिन्न है। वामन ने जो आक्षेप के दो लक्षण किए है उनको नवीन आचार्यो ने नही माना है। उनके दोनो उदाहरणो मे से अन्तिम उदाहरण को 'समासोक्ति' अलङ्कार मे नवीन लोग मानते है यह अभी ऊपर दिखला चुके है। उसका पहिला भेद नवीन आचार्यो के यहाँ प्रतीप' अलङ्कार नाम से कहा जाता है। 'प्रतीप' अलङ्कार का लक्षण साहित्यदर्पणकार ने इस प्रकार किया है—

[1]प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।
निष्फलत्वाभिधान वा प्रतीपमिति कथ्यते ॥

उसका उदाहरण निम्न दिया है—

तद् वक्त्र यदि मुद्रिता गणिकथा हा हेम मा चेद् द्युति
तच्चक्षुर्यदि हारित कुवलयैस्तच्चेत् स्मित का सुधा ।
धिक् कन्दर्पधनुर्भ्रुवौ यदि च ते किं वा बहु ब्रूमहे
यत्सत्यं पुनरुक्तवस्तुविमुख सर्गक्रमो वेधस ॥

इस प्रकार वामन ने आक्षेपालङ्कार के जो दो रूप प्रदर्शित किए है नवीन आचार्यो ने वह दोनो रूप 'प्रतीप' तथा 'समासोक्ति' अलङ्कार माने है। उनके यहा आक्षेप' अलङ्कार वामन से विलकुल भिन्न रूप मे माना गया है।

वामन से प्राचीन भामह ने भी आक्षेप अलङ्कार का जो स्वरूप माना है वह वामन मे भिन्न है और नवीन आचार्यो के मत मे बहुत-कुछ मिलता हुआ है। भामह ने लिखा है—

[1] सा० द०, ८७ ।

तुल्ययोगितायाः सहोक्तेर्भेदमाह—

वस्तुद्वयक्रिययोस्तुल्यकालयोरेकपदाभिधानं सहोक्तिः । ४, ३, २८ ।

वस्तुद्वयस्य क्रिययोस्तुल्यकालयोरेकेन पदेनाभिधानं सहार्थशब्द-सामर्थ्यात् सहोक्तिः । यथा—

अस्तं भास्वान् प्रयातः सह रिपुभिरयं संह्रियन्तां बलानि ।
अत्रार्थयोर्न्यूनत्वविशिष्टत्वे न स्तः । इति नेयं तुल्ययोगिता ॥ २८॥

---

[1] प्रतिषेध इवेप्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ।
आक्षेप इति त सन्त शसन्ति द्विविध यथा ॥
अह त्वा यदि नेक्षेय क्षणमप्युत्सुका तत ।
इयदेवास्त्वतोऽन्येन किमुक्तेनाप्रियेण ते ॥
स्वविक्रमाक्रान्तभुवश्चित्र यन्न तवोद्धति ।
को वा सेतुरल सिन्धोर्विकारकरण प्रति ॥

'तुल्ययोगिता' से 'सहोक्ति' का भेद [दिखलाने के लिए सहोक्ति अलङ्कार का लक्षण] कहते हैं—

दो वस्तुओं की तुल्यकालीन [दो] क्रियाओं का एक [ही] पद से [एक साथ] कथन करना सहोक्ति अलङ्कार [कहलाता] है ।

दो वस्तुओ की तुल्यकालीन दो क्रियाओं का एक ही पद से कथन करना सहार्थक शब्द [के प्रयोग] के सामर्थ्य से 'सहोक्ति' [अलङ्कार कहलाता] है । जैसे—

शत्रुओ के साथ यह सूर्य [भी] अस्ताचल की ओर चल दिया । अतएव अब सेनाओं को वापिस कर लो ।

[तुल्ययोगिता अलङ्कार में भी दो पदार्थो में एक ही क्रिया का योग होता है । परन्तु वहां अर्थो में न्यूनाधिक-भाव विवक्षित होता है ।] यहां [सहोक्ति अलङ्कार में] अर्थो का न्यूनाधिकत्व [विवक्षित] नही है इसलिए यह तुल्ययोगिता [अलङ्कार] नही है । [अपितु उससे भिन्न अलङ्कार है ।]

---

[1] भामह काव्यालङ्कार २, ६८-७० ।

समाहितमेकमवशिष्यते, तल्लक्षणार्थमाह—

यत्सादृश्य तत्सम्पत्तिः समाहितम् । ४, ३, २९ ।

यस्य वस्तुनः सादृश्यं गृह्यते तस्य वस्तुनः सम्पत्तिः समाहितम् । यथा—

तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद् विश्रान्तपुष्पोद्गमा ।
चिन्तामौनमिवास्थिता मधुलिहां शब्दैर्विना लक्ष्यते
चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा ॥

अत्र पुरूरवसो लतायामुर्वश्याः सादृश्यं गृह्णतः सैव लतोर्वशी सम्पन्नेति ॥२९॥

साहित्यदर्पणकार ने सहोक्ति का लक्षण इस प्रकार किया है—

[1] सहार्थस्य बलादेक यत्र स्याद्वाचक द्वयो ।
सा सहोक्तिर्मूलभूतातिशयोक्तिर्निगद्यते ॥

भामह ने सहोक्ति का लक्षण इस प्रकार नही किया है ॥ २८ ॥

[हमारे उद्दिष्ट ३३ अर्थालङ्कारो में से ३२ के लक्षण आदि यहां तक किए जा चुके है । अब] एक समाहित [अलङ्कार] शेष रह जाता है । उसका लक्षण करने के लिए [अगला सूत्र] कहते है ।

जिस वस्तु का सादृश्य [उपमेय में दिखलाना अभीष्ट] है, [उपमेय को] तद्रूपता प्राप्ति [को] समाहित [अलङ्कार कहा जाता] है ।

जिस वस्तु का सादृश्य [उपमेय में] गृहीत होता है [उपमेय के द्वारा] उस वस्तु [के स्वरूप] की प्राप्ति [को] समाहित [अलङ्कार कहा जाता] है । जैसे—

तन्वी [उर्वशी] पैरो पर पडे हुए मुझ [पुरूरवा] को तिरस्कृत करके पश्चात्तापयुक्त होकर आंसुओ से गीले अधर के समान वर्षा के जल से आर्द्र पल्लवो को धारण किए हुए, ऋतुकाल के न होने से पुष्पोद्गम से रहित आभरण शून्य-सी, भौंरो के शब्द के अभाव में चिन्ता से मौन को प्राप्त [लता रूप में] दिखलाई दे रही है ।

यहां लता में उर्वशी के सादृश्य को देखने [ग्रहण करने] वाले पुरूरवा के लिए [कल्पनावश] उर्वशी वह लता ही बन गई है [इसलिए यहां 'समाहित' अलङ्कार है] ॥ २९ ॥

---

[1] साहित्यदर्पण १०, ५५ ।

एते चालङ्काराः शुद्धा मिश्राश्च प्रयोक्तव्या इति विशिष्टानामलङ्काराणां मिश्रितत्वं संसृष्टिरित्याह—

अलङ्कारस्यालङ्कारयोनित्व ससृष्टिः । ४,३ ३० ।

अलङ्कारस्यालङ्कारयोनित्वं यदसौ संसृष्टिरिति । संसृष्टिः संसगः सम्बन्ध इति ॥३०॥

तद्भेदावुपमारूपकोत्प्रेक्षावयवौ । ४, ३, ३१ ।

तस्याः संसृष्टेर्भेदावुपमा रूपकञ्चोत्प्रेक्षावयवश्चेति ॥ ३१ ॥

उपमाजन्यं रूपकमुपमारूपकम् । ४, ३, ३२ ।

स्पष्टम् । यथा—

निरवधि च निराश्रयञ्च यत्र स्थितमनिवर्तितकौतुकप्रपञ्चम् ।
प्रथम इह भवान् स कूर्ममूर्तिर्जयति चतुर्दशलोकवल्लिकन्दः ॥

यह अलङ्कार शुद्ध और मिश्र रूप में भी प्रयुक्त हो सकते हैं । इसलिए विशिष्ट अलङ्कारो का मिश्रण संसृष्टि [अलङ्कार] होता है, यह [अगले सूत्र में] कहते हैं—

[एक] अलङ्कार का जो अलङ्कार हेतुत्व [अर्थात् दूसरे अलङ्कार के साथ कार्यकारण भाव सम्बन्ध] है उसको संसृष्टि [अलङ्कार] कहते हैं ।

[एक] अलङ्कार का जो [दूसरे] अलङ्कार के प्रति हेतुत्व [अर्थात् दूसरे अलङ्कार के साथ जो कार्यकारण-भाव सम्बन्ध] है वह संसृष्टि [अलङ्कार कहलाता] है । संसृष्टि [का अर्थ] संसर्ग [अर्थात्] सम्बन्ध है ॥ ३० ॥

उसके 'उपमारूपक' तथा 'उत्प्रेक्षावयव' दो भेद हैं ।

उस संसृष्टि के उपमारूपक और उत्प्रेक्षावयव [यह] दो भेद है ।

'अलङ्कारयोनित्व' जो संसृष्टि का लक्षण किया है उसमे एक 'अलङ्कार कारण है जिसमें' इस प्रकार का बहुव्रीहि समास करके उपमारूपक को ससृष्टि कहा जाता है क्योकि उसमे उपमा रूपक का कारण है । ओर दूसरे भेद 'उत्प्रेक्षावयव' मे अलङ्कारयोनित्व पद मे तत्पुरुष समास किया जाता है । उत्प्रेक्षा का अवयव 'उत्प्रेक्षावयव' कहलाता है । इस प्रकार ससृष्टि के दो भेदो मे 'अलङ्कारयोनित्व' पद के दो भिन्न-भिन्न समास किए जाते है ॥ ३१ ॥

इन भेदो मे से पहले उपमारूपक का लक्षण करते है ।

उपमा से जन्य रूपक उपमारूपक [कहलाता] है ।

[सूत्र का अर्थ] स्पष्ट है । [उदाहरण] जैसे—

जिनके ऊपर यह अनन्त [निरवधि] और [अन्य] किसी आधार पर

एवं 'रजनीपुरन्धिलोध्रतिलक' इत्येवमादयस्तद्भेदा द्रष्टव्याः ॥३२॥

उत्प्रेक्षाहेतुरुत्प्रेक्षावयव. । ४, ३, ३३ ।

उत्प्रेक्षाया हेतुरुत्प्रेक्षावयवः । अवयवशब्दो ह्यारम्भकं लक्षयति । यथा—

अंगुलीभिरिव केशसञ्चयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः ।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥ ३३ ॥

न टिका हुआ [निराश्रय], आश्चर्यमय [अनिर्वाततकौतुक] ससार [प्रपञ्च] स्थित है, चौदह लोकरूप लताओ के मूलरूप कूर्म स्वरूप, आप जगत् में अद्वितीय और सर्वोत्कर्षशाली है ।

यहा 'उपमित व्याघ्रादिभि सामान्याप्रयोगे' इस सूत्र से 'लोको वल्लिरिव इति लोकवल्लि.' इस प्रकार का उपमित समास होकर 'लोकवल्लि' पद वनता है । फिर उसका कन्द के साथ पष्ठी तत्पुरुष समास होकर 'लोकवल्ल्या कन्द इति लोकवल्लिकन्द' यह पद वनता है । इस प्रकार पहले 'लोकवल्लि' का उपमित समास होने के वाद कूर्ममूर्ति के ऊपर 'कन्द' का आरोप किया जाता है । इसलिए यह उपमाजन्य, उपमामूलक, रूपक अलङ्कार है अत 'उपमारूपक' कहलाता है । इसमे उपमा और रूपक दोनो का मिश्रण होने से 'ससृष्टि' अलङ्कार कहलाता है ।

दूसरे ढग से विचार करे तो पहिले 'कूर्ममूर्ति' पर कन्दत्व का आरोप करके फिर लोक पर वल्लित्व का आरोप पीछे किया जाय यह भी हो सकता है । उस दशा मे यह रूपकमूलक रूपक होगा । जिसे नवीन लोग 'परम्परित रूपक' भी कहते है । परन्तु वामन ने यहा रूपक मूलक या परम्परित रूपक न मान कर उपमाजन्य रूपक माना है । इसका अभिप्राय यह है कि वामन को यहा पहिले 'लोकवल्लि' पद मे उपमित समास ही अभीष्ट है ॥ ३२ ॥

उत्प्रेक्षा का हेतु [रूपकादि दूसरा अलङ्कार] उत्प्रेक्षावयव [कहलाता] है ।

उत्प्रेक्षा का हेतु [दूसरा अलङ्कार] उत्प्रेक्षा अवयव [कहलाता] है । अवयव शब्द [लक्षणा से] आरम्भक [इस अर्थ] को वोधित करता है । [उदाहरण] जैसे—

अंगुलियो के समान [मरीचियो] किरणो से [नायिका के] केश

सञ्चय रूप अन्धकार को हटा कर मुंदे हुए कमल-नयनो वाले रजनी [नायिका] के मुख को चन्द्रमा चुम्बन-सा कर रहा है ।

यहा 'चुम्बतीव रजनीमुख शशी' यह उत्प्रेक्षा अलङ्कार है । यह उपमा और रूपक से अनुप्राणित हो रहा है । इसलिए उत्प्रेक्षा हेतु या उत्प्रेक्षावयव रूप ससृष्टि अलङ्कार का उदाहरण है ।

भामह ने 'उपमारूपक' तथा' उत्प्रेक्षावयव' अलङ्कारो का निरूपण तो किया है, परन्तु वामन के समान उन्हे ससृष्टि का भेद नही माना है । ससृष्टि को उन दोनो से भिन्न अलग ही अलङ्कार माना है और तीनो अलङ्कारो का स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग इस प्रकार निरूपण किया है—

[1] उपमानेन तद्भावमुपमेयस्य 'साधयत् ।
या वदन्त्युपमामेतदुपमारूपक यथा ॥
समग्रगगनायाममानदण्डो रथागिन. ।
पादो जयति सिद्धस्त्रीमुखेन्दुनवदर्पण ॥

[2] श्लिष्टस्यार्थेन च सयुक्त किञ्चिदुत्प्रेक्षयान्वित ।
रूपकार्थेन च पुनरुत्प्रेक्षावयवो यथा ॥
तुल्योदयावसानत्वाद् गतेऽस्त प्रति भास्वति ।
वासाय वासर क्लान्तो विशतीव तमीगुहाम् ॥

[3] वरा विभूषा ससृष्टिर्बह्वलङ्कारयोगत ।
रचिता रत्नमालेव सा चैवमुदिता यथा ॥
गाम्भीर्यलाघववतोर्युवयो प्राज्यरत्नयो. ।
सुखसेव्यो जनाना त्व दुष्टग्राहोऽम्भसा पति ॥
अनलकृतकान्त ते वदन, वनजद्युति ।
निशाकृत प्रकृत्यैव चारो. का वास्त्यलकृति ॥
अन्येषामपि कर्तव्या ससृष्टिरनया दिशा ।
कियदुद्धट्टितज्ञेभ्य शक्य कथयितु मया ॥

इस प्रकार भामह तथा वामन के मत मे बहुत भेद है । वामन उपमा-रूपक तथा उत्प्रेक्षावयव को ससृष्टि का भेद मानते है । परन्तु भामह उन तीनो को अलग-अलग अलङ्कार मानते है ।

---

[1] भामह काव्यालङ्कार ३, ३५-३६ ।
[2] भामह काव्यालङ्कार ३, ४७-४८ ।
[3] भामह काव्यालङ्कार ५, ४९-४२ ।

नवीन आचार्यो ने अनेक अलङ्कारो के मिश्रण की स्थिति मे सङ्कर और ससृष्टि दो प्रकार के अलङ्कार माने है। जब कि वामन और भामह दोनो मिश्रण की स्थिति मे केवल एक ससृष्टि अलङ्कार ही मानते है। मम्मट, विश्वनाथ आदि नवीन आचार्यो के मत मे यदि दो या अधिक अलङ्कारो की परस्पर निरपेक्ष स्थिति होती है तभी ससृष्टि अलङ्कार माना गया है। कार्यकारण-भावादि होने पर ससृष्टि नही अपितु सकर अलङ्कार होता है। उन्होने सङ्कर के अगागिभाव सकर, २ सन्देह सकर, तथा एकाश्रयानुप्रवेश सकर इस प्रकार तीन भेद माने है। और परस्पर निरपेक्ष अलङ्कारो की स्थिति मे ससृष्टि अलङ्कार माना है। साहित्यदर्पण मे इनका निरूपण इस प्रकार किया है—

यदैत एवालङ्कारा परस्परविमिश्रिता ।
तदा पृथगलङ्कारो ससृष्टि सकरस्तथा ।
मिथोऽनपेक्षतयैषां स्थिति ससृष्टिरुच्यते ।
अगागित्वेऽप्यलक्तीना तद्वदेकाश्रयस्थितौ ।
सन्दिग्धत्वे च भवति सकरस्त्रिविध पुन ॥

ससृष्टि के भी फिर अनेक भेद हो सकते है। जैसे शब्दालङ्कारो की ससृष्टि, अथवा अर्थालङ्कारो की ससृष्टि अथवा शब्दार्थालङ्कारो की ससृष्टि। इन तीनो प्रकार की ससृष्टि एक ही उदाहरण मे इस प्रकार दिखलाई गई है।

देव पायादपायान्न स्मेरेन्दीवरलोचन ।
ससारध्वान्तविध्वसहस कसनिपूदन ॥

इसके पहिले चरण 'पायादपायाद्' मे यमक है। तीसरे चरण 'ससार-ध्वान्त विध्वसहस' मे अनुप्रास अलङ्कार है। यह दोनो परस्पर निरपेक्ष रूप से स्थित है। इसलिए यह शब्दालङ्कारो की ससृष्टि हुई। द्वितीय पाद मे 'स्मेरेन्दीवर-लोचन' मे उपमा अलङ्कार और श्लोक के उत्तरार्द्ध मे सूर्य के आरोप मूलक रूपक अलङ्कार होने मे यहा अर्थालङ्कारो की ससृष्टि हुई। और श्लोक मे शब्दालङ्कार अर्थालङ्कार दोनो के होने से उभयालङ्कार की ससृष्टि हुई।

इस ससृष्टि के विषय मे प्राचीन तथा नवीन आचार्यो के मत मे बहुत भेद है। वामन आदि तो कार्य-कारण भाव आदि होने पर ससृष्टि मानते है परन्तु नवीन आचार्य उसको ससृष्टि न कह कर सङ्कर कहते है। और अनेक अलङ्कारो की निरपेक्ष स्थिति को संसृष्टि कहते है। सङ्करालङ्कार के सन्देह

एभिर्निदर्शनैः स्वीयैः परकीयैश्च पुष्कलैः ।
शब्दवैचित्र्यगर्भेयमुपमैव प्रपञ्चिता ॥
अलङ्कारैकदेशा ये मता सौभाग्यभागिनः ।
तेऽप्यलङ्कारदेशीया योजनीयाः कवीश्वरैः ॥

इति श्री काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ
आलङ्कारिके चतुर्थेऽधिकरणे
तृतीयोऽध्यायः
समाप्तञ्चेदमालङ्कारिकं चतुर्थमधिकरणम् ॥

सङ्कर, अगागिभाव सङ्कर और एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर तीनो प्रकार के अनेक उदाहरण दिए गये है ।

इस अधिकरण के अन्त मे अधिकरण का उपसहार करते हुए ग्रन्थकार लिखते है —

अपने [स्वरचित] तथा बहुत से दूसरो के [बनाए हुए] इन उदाहरणो के द्वारा, शब्दो के वैचित्र्य से परिपूर्ण [अनेक अलङ्कारों के रूप में] यह उपमा [अलङ्कार] का ही [प्रपञ्च] विस्तार किया है ।

इन अलङ्कारो के जो [कोई] भाग [एकदेश] सुन्दर [सौभाग्य भागिनः] हो अलङ्कारदेशीय [ईषदसमाप्तौ कल्पकल्पबदेश्यदेशीयरः । अलङ्कारसदृश] वह भी कवीश्वरों को [अपने काव्यो में] प्रयुक्त करने चाहिएं ॥ ३४ ॥

इति श्री काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति में
अलङ्कारनिरूपणपरक [आलङ्कारिक] चतुर्थ अधिकरण में
तृतीय अध्याय समाप्त हुआ ।
और यह आलङ्कारिक चतुर्थ अधिकरण [भी] समाप्त हुआ ।

श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां
काव्यालङ्कारदीपिकायां हिन्दीव्याख्यायां
चतुर्थाधिकरणे तृतीयोऽध्याय. समाप्त :

समाप्तञ्चेदमालङ्कारिकं चतुर्थमधिकरणम् ।

'प्रायोगिकं' नाम पञ्चममधिकरणम्

प्रथमोऽध्यायः

[काव्यसमयः]

सम्प्रति काव्यसमयं शब्दशुद्धिञ्च दर्शयितुं प्रायोगिकाख्यमधिकरणमारभ्यते। तत्र काव्यसमयस्तावदुच्यते।

नैक पदं द्वि. प्रयोज्य प्रायेण। ५, १, १।

पञ्चम अधिकरण का प्रथम अध्याय

पिछले अधिकरणो मे से 'शारीर' नामक प्रथम अधिकरण मे काव्य का प्रयोजन, रीति तथा काव्याङ्गो का, 'दोषदर्शन' नामक द्वितीय अधिकरण मे शब्द-दोष और अर्थ-दोषो का, 'गुणविवेचन' नामक तृतीय अधिकरण मे गुण तथा अलङ्कार का भेद और शब्द-गुण तथा अर्थगुणो का, और चतुर्थ अधिकरण मे शब्दालङ्कारो तथा उपमा और उपमाप्रपञ्च रूप अन्य अर्थालङ्कारो का विवेचन कर चुके है। इस प्रकार काव्यालङ्कार ग्रन्थ का विषय प्राय प्रतिपादित हो चुका है। अब 'प्रायोगिक' नामक इस पञ्चम अधिकरण मे 'काव्य-समय' अर्थात् काव्य की अनुसरणीय परम्पराओ और 'शब्दशुद्धि' रूप प्रयोगसम्बन्धी बातो का निरूपण करेंगे इसलिए इस अधिकरण का नाम 'प्रायोगिक' अधिकरण है। इसके दो अध्याय है। जिनमे से पहले अध्याय मे 'काव्य-समय' अर्थात् महाकवियो की काव्यसम्बन्धी परम्पराओ का निरूपण प्रारम्भ करते हैं।

अब [इस पञ्चम अधिकरण में] 'काव्य-समय' [काव्य में ध्यान देने योग्य आचार या परम्पराओ] और शब्दशुद्धि के दिखलाने के लिए 'प्रायोगिक' नामक [यह पञ्चम] अधिकरण आरम्भ करते हैं। उसमें पहिले [प्रथम अध्याय में] 'काव्य-समय' [काव्य के परम्पराप्राप्त नियम या आचार] कहते हैं।

[काव्य में] प्राय एक पद का दो बार [एक साथ या एक वाक्य में] प्रयोग नही करना चाहिए।

एकं पदं न द्विः प्रयोज्यं प्रायेण बाहुल्येन । यथा पयोद पयोद इति । किञ्चिदेव चादिपदं द्विरपि प्रयोक्तव्यमिति । यथा—

सन्तः सन्तः खलाः खलाः ॥ १ ॥

नित्यं संहितैकपदवत् पादेष्वधान्तवर्जम् । ५, १, २ ।

एक पद का [एक साथ या एक वाक्य में] दो बार प्रयोग अधिकता से नही करना चाहिए । [क्योकि इस प्रयोग की पुनरुक्ति से काव्य की शोभा नहीं रहती है । और कवि की अशक्ति का परिचय मिलता है] । जैसे 'पयोद पयोद' [इस प्रकार का प्रयोग किसी कवि ने किया है, वह अनुचित है] । 'च' आदि कोई-कोई पद ही [एक ही वाक्य मे] दो बार भी प्रयुक्त हो सकते है । जैसे—

सज्जन [पुरुष] सज्जन ही होते है और दुष्ट दुष्ट ही ठहरे ।

यहा दूसरा 'सन्त' पद दयाभावनादिविशिष्ट सन्त का बोधक होने से और दूसरा खल शब्द क्रूरत्वादि विशिष्ट खल अर्थ का बोधक होने से विशिष्ट अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है । इसलिए पुनरुक्त न होने से दोषाधायक नही है ।

वाराणसीय प्रथम सस्करण मे इस सूत्र की वृत्ति मे 'किञ्चिदिवादिपद द्विरपि प्रयोक्तव्यमिति' इस प्रकार का पाठ दिया हुआ है । इसकी व्याख्या करते हुए त्रिपुरहर भूपाल ने लिखा है—

किञ्चिदिति यथा—

ते च प्रापुरुदन्वन्त बुबुधे चादिपूरुष । इति ।

इसे टीकाकार ने 'किञ्चिदिवादिपद' का उदाहरण दिया है । इस उदाहरण मे चकार का दो बार प्रयोग किया गया है । इसलिए यह चादि पद के द्वि प्रयोग का उदाहरण हुआ । इससे प्रतीत होता है कि वृत्तिग्रन्थ मे च छपने मे छूट गया है । और इव के स्थान पर एव पाठ उचित प्रतीत होता है । इसलिए 'किञ्चिदिवादि पद' के स्थान पर 'किञ्चिदेव चादिपद' पाठ होना चाहिए था । 'किञ्चिदिवादिपद' पाठ ठीक नही है । इसीलिए हमने यहा मूल मे 'किञ्चिदेव चादिपद' यह पाठ ही रखा है । आदि पद से पादानुप्रास, पादयमक आदि मे द्वि प्रयोग उचित ही है यह बात सूचित की है ॥ १ ॥

काव्य निर्माण करते समय ध्यान रखने योग्य दूसरा नियम या 'काव्य-समय' बतलाते है—

एक पद के समान [श्लोक के] पादो मे [आए हुए पदो में] सन्धि अवश्य [नित्य] करनी चाहिए । [श्लोकार्ध रूप] अर्धान्त को छोड़ कर ।

नित्यं संहिता पादेष्वेकपदवदेकस्मिन्निव पदे । तत्र हि नित्या संहितेत्याम्नायः । यथा—

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।

इति । अर्धान्तवर्जमर्धान्तं वर्जयित्वा ॥ २ ॥

न पादान्तलघोर्गुरुत्वञ्च सर्वत्र । ५, १, ३ ।

एक पद के समान अर्थात् जैसे [सुरेश, महेश आदि] एक पद में [सन्धि नित्य अपरिहार्य है] इसी प्रकार [श्लोक के प्रथम, द्वितीय अथवा तृतीय और चतुर्थ] [चरणो में प्राप्त सन्धि] नित्य [अपरिहार्य] सन्धि होनी चाहिए । वहां [एकपद में, सहिता] सन्धि नित्य होती है इस प्रकार का [आम्नाय] शास्त्र वचन है । जैसे—

एक पद में सन्धि नित्य होती है, और धातु तथा उपसर्ग [के बीच] में भी नित्य सन्धि होती है ।

यह 'अर्धान्त वर्ज' अर्थात् [श्लोक के] अर्धान्त को छोड़ कर ।

अर्थात् श्लोक के पूर्वार्द्ध के अन्त मे आए हुए और उत्तरार्ध के प्रारम्भ मे आए हुए अक्षरो मे यदि नियम के अनुसार कोई सन्धि प्राप्त होती है तो नित्य सन्धि नही होगी । परन्तु उसको छोड कर श्लोक के पादो मे आए हुए शब्दो मे अथवा प्रथम और द्वितीय चरण के बीच मे या तृतीय और चतुर्थ चरण के बीच मे जहा सन्धि प्राप्त हो वहा सन्धि अवश्य करनी चाहिए । इस प्रकार की सन्धि न करने मे 'विसन्धि' दोप हो जाता है । उसे वामन ने 'विसन्धि' और नए आचार्यो ने 'सन्धि विश्लेप' दोप कहा है । 'दोपाधिकरण' मे इसका निरूपण किया जा चुका है ॥ २ ॥

छन्द शास्त्र मे वृत्त के लघु-गुरु वर्णो की व्याख्या करते हुए 'पादान्तस्य विकल्पेन' इस नियम के अनुसार पादान्त मे स्थित लघु वर्ण विकल्प से गुरु हो सकता है । अर्थात् पादान्त मे आया हुआ लघु वर्ण आवश्यकतानुसार गुरु या लघु कुछ भी माना जा सकता है । जहा छन्द के लक्षण के अनुसार पादान्त मे लघु अक्षर की आवश्यकता है वहा वह लघु वर्ण गिना जायगा । और जहा गुरु वर्ण की आवश्यकता है वहा पादान्त मे स्थित वह लघु वर्ण गुरु गिना जायगा यह नियम है । इस नियम के विषय मे ग्रन्थकार कहते है कि यह नियम सार्वत्रिक नही है । अर्थात् सब छन्दो मे यह लागू नही होता है । इन्द्रवज्रा आदि कुछ छन्दो मे अन्तिम लघु वर्ण गुरु हो जाता है परन्तु कुछ छन्दो मे वह गुरु नही

'प्रायोगिक' नाम्नि पञ्चमाधिकरणे

द्वितीयोऽध्यायः

[शब्दशुद्धिः]

साम्प्रतं शब्दशुद्धिरुच्यते ।

रुद्रावित्येकशेषोऽन्वेष्यः । ५, २, १ ।

रुद्रावित्यत्र प्रयोगे एकशेषोऽन्वेष्योऽन्वेषणीयः । रुद्रश्च रुद्राणी

'प्रायोगिक' पञ्चम अधिकरण में द्वितीय अध्याय

पञ्चम अधिकरण का नाम 'प्रायोगिक' अधिकरण है। इसमें कवियों के लिए शब्द वाक्य आदि के प्रयोग के नियम बतलाए हैं इसलिए इसका नाम 'प्रायोगिक' अधिकरण रखा गया है। इस के प्रथम अध्याय में 'काव्य-समय' नाम से काव्य में प्रयुक्त होने वाली सामान्य बातों का उल्लेख किया गया है। इस अध्याय में 'शब्दशुद्धि' के विषय में लिखेंगे। कुछ शब्द ऐसे होते हैं जो देखने में शुद्ध मालूम होते हैं परन्तु वास्तव में पाणिनीय व्याकरण के अनुसार उनका प्रयोग उचित नहीं होता है। और कुछ शब्द इस प्रकार के होते हैं जिनको अशुद्ध मानकर कवि लोग उनका प्रयोग नहीं करते हैं। पर वास्तव में वह शुद्ध होते हैं और प्रयुक्त किए जा सकते हैं। इन दोनों प्रकार के कुछ प्रचलित शब्दों की विवेचना इस अध्याय में करेंगे। सबसे पहले शिव और पार्वती दोनों के लिए सम्मिलित रूप से होने वाले 'रुद्रौ' इस प्रयोग को लेते हैं।

अब शब्दशुद्धि का कथन करते हैं।

रुद्रौ' इस [प्रयोग] में एकशेष [का विधान] खोजना होगा [अर्थात् मिलता नहीं है। अतएव यहां एकशेष करके शिव तथा पार्वती दोनों के लिए 'रुद्रौ' यह प्रयोग करना उचित नहीं] है।

[शिव और पार्वती दोनों के लिए सम्मिलित रूप में एकशेष द्वारा] 'रुद्रौ' इस प्रयोग में एकशेष [विधायक सूत्र का] अन्वेषण करना होगा। रुद्र और [रुद्रस्य पत्नी] रुद्राणी ['इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्यमातुला-

चेति [1]'पुमान् स्त्रियाः' इत्येकशेषः। स च न प्राप्नोति। तत्र हि [2]'तल्लक्षणश्चेदेव विशेष' इत्यनुवर्तते। इति तत्रैवकारकरणात् स्त्रीपुंसकृत एव विशेषो भवतीति व्यवस्थितम्। अत्र तु [3]'पुंयोगादाख्यायाम्' इति विशेषान्तरमप्यस्तीति। एतेन इन्द्रौ, भवौ, शर्वौ इत्यादयः प्रयोगाः प्रत्युक्ताः॥ १॥

चार्याणामानुक्' इस सूत्र से स्त्रीलिंग में रुद्र शब्द से ङीष् प्रत्यय और आनुक् का आगम होकर 'रुद्राणी' पद बनता है।] इस [विग्रह] में 'पुमान् स्त्रिया' [अष्टाध्यायी १, २, ६७] इस सूत्र से एकशेष हो सकता था। परन्तु वह प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि उस ['पुमान् स्त्रिया' सूत्र] में [इससे पहिले के 'वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' अष्टाध्यायी १, २, ६६ सूत्र से] 'तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' इसकी अनुवृत्ति आती है। उसमें 'एवकार' के होने से स्त्रीत्व-पुंस्त्वकृत भेद [में] ही [एकशेष] होता है। [अन्य किसी प्रकार का अन्तर होने पर एकशेष नहीं होता है] यह व्यवस्था की गई है। यहा ['रुद्रश्च रुद्राणी' च इस विग्रह म] तो 'पुयोगादाख्यायाम्' इससे [अष्टाध्यायी ४, १, १८ पुरुष के योग से 'रुद्रस्य पत्नी रुद्राणी' अथवा 'गोपस्य पत्नी गोपी' इत्यादि के समान केवल स्त्रीत्व नहीं अपितु पत्नीत्व रूप] अन्य विशेषता भी है। [इसलिए यहां एकशेष नहीं हो सकता है। अत. एकशेष करके शिव और पार्वती दोनो के लिए 'रुद्रौ' पद का प्रयोग अनुचित है]। इससे ['रुद्रौ' पद में एकशेष की विवेचना से उसी के समान] 'इन्द्रौ', 'भवौ', 'शर्वौ' इत्यादि ['इन्द्रवरुण-भव-शर्व' इत्यादि अष्टाध्यायी के ४, १, ४९ सूत्र के आधार पर बने हुए पदो में भी एकशेष करके किए हुए] प्रयोगो का भी खण्डन हो गया। [अर्थात् उनका भी एकशेष करके 'भवौ', 'शर्वौ' आदि प्रयोग नहीं करना चाहिए]॥१॥

'मिलति', 'विक्लवति', 'क्षपयति' इत्यादि प्रयोग महाकवियो ने किए है। परन्तु इनके मूलभूत धातु धातुपाठ मे नही मिलते है। तब यह प्रयोग कैसे बनते है इस प्रकार की शका हो सकती है। इसका समाधान करने के लिए अगला सूत्र कहते है—

---

[1] अष्टाध्यायी १, २, ६७।

[2] अष्टाध्यायी १, २, ३६।

[3] अष्टाध्यायी ४, १, ४८।

मिलि-क्लबि-क्षपि-प्रभृतीनां धातुत्वं, धातुगणस्यासमाप्तेः ।

५, १, २ ।

मिलति, विक्लबति, क्षपयति इत्यादय. प्रयोगाः । तत्र मिलि-क्लबि-क्षपि-प्रभृतीनां कथं धातुत्वम् । गणपाठाद्, गणपठितानामेव धातु-संज्ञाविधानात् । तत्राह । धातुगणस्यासमाप्तेः । वर्धते धातुगण इति हि शब्दविद आचक्षते । तेनैषां गणपाठोऽनुमतः, शिष्टप्रयोगादिति ॥ २ ॥

वलेरात्मनेपदमनित्यं ज्ञापकात् । ५, २, ३ ।

वलेरनुदात्तेत्त्वादात्मनेपदं यत्, तदनित्यं दृश्यते, 'लज्जालोलं वलन्ती' इत्यादिप्रयोगेषु । तत्कथमित्याह ज्ञापकात् ॥ ३ ॥

'मिलि', 'क्लबि' और 'क्षपि' आदि [धातुपाठ में अपठित] का धातुत्व है । धातुगण [धातुपाठ मात्र में समस्त धातुओं] के समाप्त न होने से [धातुपाठ के अतिरिक्त धातु भी होते हैं]।

'मिलति', 'विक्लबति', 'क्षपयति' इत्यादि प्रयोग पाए जाते हैं । उनमें [उनके मूलभूत] मिलि, क्लबि, क्षपि आदि का धातुत्व [धातुपाठ में पठित न होने के कारण] कैसे होगा ? गणपाठ से, [भ्वादि] गण पठितो की ही धातुसंज्ञा का विधान [[1]'भूवादयो धातवः' इस सूत्र में] होने से । [गणो में अपठित मिलि आदि का धातुत्व कैसे होगा, यह प्रश्न हुआ]।

इसका उत्तर देते हैं । धातुगण के [उसी परिगणित धातुपाठ के भीतर] समाप्त न होने से । [धातुपाठ के बाहर भी बहुत धातु शिष्ट प्रयोग से मानी जा सकती हैं । इसीलिए] धातुगण बढ़ सकता है । यह शब्द-शास्त्रज्ञ [व्याकरण के आचार्य] कहते हैं । इसलिए इन [मिलि, क्लबि आदि] का गणपाठ [धातुत्व] शिष्ट प्रयोग से अभिमत है । ['प्रभृति'-ग्रहण से 'बीज' 'आन्दोल' आदि का ग्रहण भी करना चाहिए । 'शिष्ट' प्रयोग [शब्द] से अतिप्रसङ्ग का वारण किया है ॥ २ ॥

'वलि' [धातु] का [अनुदात्तेत् निमित्तक] आत्मनेपद [चक्षिङ् धातु में इकार तथा डकार दो अनुबन्ध करने रूप] ज्ञापक [बल] से अनित्य है । [इसलिए परस्मैपद में भी उसका प्रयोग हो सकता है]।

वलि [धातु] के अनुदात्त [इकार के] इत् होने से [[2]'अनुदात्तङित

---

[1] अष्टाध्यायी १, ३, १ ।

[2] अष्टाध्यायी १, ३, १२ ।

किं पुनस्तज्ज्ञापकमत आह—

चक्षिङो ङ्ख्यनुबन्धकरणम् । ५, २, ४ ।

चक्षिङ इकारेणैवानुदात्तेन सिद्धमात्मनेपदं किमर्थं ङित्करणम् । यत् क्रियते अनुदात्तनिमित्तस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वज्ञापनार्थम् । एतेन वेदि-भर्त्सि तर्जि-प्रभृतयो व्याख्याताः । आवेदयति, भर्त्सयति, तर्जयति इत्यादीनां प्रयोगाणां दर्शनात् । अन्यत्राप्यनुदात्तनिबन्धनस्य आत्मनेपदस्यानित्यत्वं ज्ञापकेन द्रष्टव्यमिति ॥ ४ ॥

आत्मनेपदम्' इस सूत्र से विहित] जो आत्मनेपद हुआ है वह 'लज्जालोलं वलन्ती' इत्यादि प्रयोगो में अनित्य दिखलाई देता [पाया जाता] है । वह ['वलन्ती' पद में परस्मैपदनिमित्तक शतृ प्रत्यय] कैसे हुआ [इस शङ्का के होने पर उस के समाधान के लिए] यह कहते हैं । [चक्षिङ् धातु में ङकार तथा ङकार अनुदात्तेत् और ङित्करण रूप अनुबन्धद्वय की रचना रूप] ज्ञापक के होने से । [अनुदात्तेत् निमित्तक आत्मनेपद की अनित्यता होने से 'वलन्ती' में आत्मनेपद को अनित्य मान कर ही कवि ने 'वलन्ती' पद का प्रयोग किया है] ॥ ३ ॥

['वलन्ती' में अनुदात्तेत् निमित्तक आत्मनेपद की अनित्यता का] वह ज्ञापक क्या है । इसके [दिखलाने के] लिए [अगले सूत्र में ज्ञापक] कहते हैं—

चक्षिङ् [धातु] के [इकार और ङकार रूप] दो अनुबन्धों का करना [ही इस विषय में ज्ञापक है] ।

चक्षिङ् [धातु में] के अनुदात्त 'इकार' [के इत् होने] से ही ['अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' इस सूत्र से] आत्मनेपद सिद्ध हो सकता है फिर ङित्करण किसलिए किया है । जो [यह ङित्करण] किया है वह अनुदात्तेत् निमित्तक आत्मनेपद के अनित्यत्वज्ञापन के लिए [ही] किया है । इस [अनुदात्तेत्-निमित्तक आत्मनेपद के अनित्यत्व-ज्ञापन] से वेदि, भर्त्सि, तर्जि प्रभृति [धातुओ में अनुदात्तेत् अर्थात् इकार की इत् सज्ञा होने पर भी आत्मनेपद के न होने के कारण] की व्याख्या हो गई । [उन धातुओ के अनुदात्तेत्-होने पर भी अनुदात्तेत्-निमित्तक आत्मनेपद के अनित्य होने से ही] आवेदयति, भर्त्सयति, तर्जयति आदि [परस्मैपद के] प्रयोग देखे जाने से । [चक्षिङ् धातु से] अन्यत्र भी अनुदात्तनिमित्तक आत्मनेपद का अनित्यत्व [इस] ज्ञापक से समझना चाहिए ॥ ४ ॥

इस प्रकार आत्मनेपदी धातुओ के परस्मैपद के रूपो का समर्थन कर आगे परस्मैपदी 'क्षि' और खिद आदि धातुओ के 'क्षीयते', 'खिद्यते' आदि आत्मने-

क्षीयते इति कर्मकर्तरि । ५, २, ५ ।

क्षीयते इति प्रयोगो दृश्यते । स कर्मकर्तरि द्रष्टव्यः । क्षीयतेरनात्मनेपदित्वात् ॥ ५ ॥

पद प्रयोगो के समर्थन का प्रकार अगले दो सूत्रो मे दिखलाते है । इन दोनो प्रयोगो का समर्थन ग्रन्थकार ने कर्मकर्ता मे उनका प्रयोग मान कर किया है । जब सौकर्य के अतिशय के द्योतन के लिए कर्तृत्व की अविवक्षा हो जाती है तब कर्म, करण आदि अन्य कारक भी कर्ता का स्थान ग्रहण कर लेते है । जैसे हम कलम से लिखते है । लिखने मे कलम साधन या करण है । परन्तु कभी कभी 'यह कलम बडा अच्छा लिखती है' अथवा 'यह कलम तो चलती ही नही' इस प्रकार के प्रयोग करते है । यहाँ वास्तविक कर्ता मे कर्तृत्व की अविवक्षा होने से करणभूत कलम मे कर्तृत्व आ जाता है । 'साध्वसिश्छिनत्ति' आदि प्रयोग ऐसे ही है । इसी प्रकार 'ओदनं पचति', 'काष्ठ भिनत्ति' आदि वाक्यो मे जब सौकर्यातिशय द्योतन के लिए कर्तृत्व की अविवक्षा होती है तब कर्मरूप ओदन तथा काष्ठ भी कर्ता का स्थान ले लेते है । तब 'पच्यते ओदन स्वयमेव,' 'भिद्यते काष्ठ स्वयमेव' इस प्रकार के प्रयोग होते है । इन्ही को कर्मकर्ता मे प्रयोग कहते है । जब कर्म कारक कर्ता का स्थान लेता है तब '[1]कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रिय' सूत्र से कर्मवद्भाव होने से यक्, आत्मनेपद, चिण्वद्भाव, चिण्वद् इट् आदि कार्य होते है । इसलिए जिन धातुओ से साधारणतः कर्ता मे प्रत्यय होने की अवस्था मे परस्मैपद होता है जैसे 'ओदन पचति', 'काष्ठ भिनत्ति' आदि मे उन्ही धातुओ के कर्मकर्ता मे यक् प्रत्यय और आत्मनेपद होकर 'पच्यते ओदन' 'भिद्यते काष्ठ' इस प्रकार के प्रयोग होते है । यह 'कर्मकर्ता' के प्रयोग कहलाते है । इसी प्रकार 'क्षीयते' तथा 'खिद्यते' प्रयोग भी कर्मकर्ता मे होने से उनमे आत्मनेपद होता है इस बात का प्रतिपादन अगले दो सूत्रो मे करते है ।

क्षीयते यह [प्रयोग] कर्मकर्ता में [होने से यहां आत्मनेपद] है ।

क्षीयते यह प्रयोग देखा जाता है । वह कर्मकर्ता में समझना चाहिए । 'क्षि' धातु के परस्मैपदी होने से ।

'क्षि' धातु, धातुपाठ मे तीन जगह आया है । पहिला भ्वादि गण मे 'क्षि क्षये' धातु आया है, वह अकर्मक है । उसका 'क्षयति' रूप बनता है । दूसरा

---

[1] अष्टाध्यायी ३, १, ८७ ।

खिद्यते इति च । ५, २, ६ ।

खिद्यते इति च प्रयोगो दृश्यते । सोऽपि कर्मकर्तर्येव द्रष्टव्यो, न कर्तरि । अदैवादिकत्वात् खिदेः ॥ ६ ॥

'क्षि हिंसायाम्' 'स्वादिगण' मे आया है वहाँ 'क्षिणोति' रूप वनता है । और तीसरा 'क्षि निवासगत्यो' 'तुदादि गण' मे आया है वहा भी परस्मैपदी धातुओ मे ही उसका पाठ है इसलिए सभी जगह 'क्षीयते' मे आत्मनेपद का उपपादन कर्मकर्ता मे प्रयोग मान कर ही हो सकता है । 'व्यय धन क्षिणोति' इस वाक्य मे जव व्यय रूप कर्ता मे कर्तृत्व की अविवक्षा हो जाती है तव कर्मकर्ता मे प्रयोग होकर 'धन स्वयमेव क्षीयते' इस प्रकार का प्रयोग हो जाता है ॥ ५ ॥

और [इसी प्रकार] 'खिद्यते' यह [प्रयोग] भी [कर्मकर्ता का ही प्रयोग समझना चाहिए] ।

और 'खिद्यते' यह प्रयोग भी पाया जाता है वह भी कर्मकर्ता में [ही] समझना चाहिये, कर्ता में नहीं । 'खिद' धातु के [यहा] दैवादिक [दिवादि-गणपठित] न होने से ।

यहा ग्रन्थकार लिख रहे है कि 'खिद' धातु 'दिवादिगण' की नही है इसलिए 'खिद्यते' रूप केवल कर्मकर्ता मे वन सकता है । कर्ता मे नही । परन्तु ग्रन्थकार का यह मत चिन्त्य है । क्योकि 'दिवादि गण' मे 'खिद दैन्ये' धातु पाया जाता है और वहाँ कर्ता मे ही 'खिद्यते' रूप भी वनता है । वस्तुत 'खिद' धातु भी धातुपाठ मे तीन जगह आया है । 'तुदादिगण' मे 'खिद परिघाते' धातु है उसका 'खिन्दति' रूप वनता है । इसके अतिरिक्त 'रुधादि' तथा 'दिवादि' गणो मे 'खिद दैन्ये' इस रूप मे 'खिद' धातु का पाठ हुआ है । 'रुधादिगण' मे उसका 'खिन्ते' रूप वनता है और 'दिवादिगण' मे 'खिद्यते' रूप कर्ता मे वनता है । 'तुदादिगण' मे 'खिद परिघाते' धातु के प्रकरण मे ही सिद्धान्तकौमुदीकार ने 'अय दैन्ये रुधादौ दिवादौ च' यह स्पष्ट रूप से लिख भी दिया है । परन्तु वामन मालूम नही किस आधार पर 'अदैवादिकत्वात् खिदे' अर्थात् खिद धातु दैवादिक—दिवादिगण पठित नही है, यह लिख रहे है । 'स्थितस्य गतिश्चिन्त-नीया' के अनुसार यदि इसकी सगति लगानी है तो इस प्रकार लगाई जा सकेगी कि वामन ने किसी विशेष स्थल के प्रयोग विशेष को 'परिघातार्थक तुदादिगणीय 'खिद' धातु से वना हुआ मान कर यह लिखा है कि यहा इस विशेष प्रयोग मे प्रयुक्त 'खिद' धातु दिवादिगण पठित दैवादिक धातु नही है । इसलिए उस स्थल मे 'खिद्यते' यह प्रयोग कर्मकर्ता मे समझना चाहिए । दिवादिगण पठित खिद

मार्गेरात्मनेपदमलक्ष्म । ५, २, ७ ।

चुरादौ 'मार्ग अन्वेषणे' इति पठ्यते । 'आ धृषाद्वा' इति विकल्पितणिच्कः । तस्माद् यदात्मनेपदं दृश्यते 'मार्गन्तां देहभारमिति' तदलक्ष्म अलक्षणम् । परस्मैपदित्वान्मार्गेः । तथा च शिष्टप्रयोगः—

'करकिसलयं धूत्वा धूत्वा विमार्गति वाससी' ॥ ७ ॥

लोलमानादयश्चानशि । ५, २, ८ ।

लोलमानो वेल्लमान इत्यादयश्चानशि द्रष्टव्याः । शानचस्त्वभावः । परस्मैपदित्वाद् धातूनामिति ॥ ८ ॥

धातु का तो कर्ता में भी 'खिद्यते' प्रयोग बन सकता है । ग्रन्थकार का यह अभिप्राय मान कर ही प्रकृत ग्रन्थ की सगति लगानी चाहिए ॥ ६ ॥

'मार्ग' धातु का आत्मनेपद अशुद्ध है ।

'चुरादिगण' में 'मार्ग अन्वेषणे' यह [धातु] पढ़ा जाता है । 'आधृषाद् वा' इस नियम से उससे [चुरादि सुलभ] णिच् विकल्प से कहा गया है । उस ['मार्ग' धातु] से जो आत्मनेपद देखा है जैसे 'मार्गन्तां देहभारम्' इस प्रयोग में [मार्ग धातु से लोट् लकार में 'मार्गन्ताम्' प्रयोग बनता है] । वह [अलक्ष्म ललणहीन-दूषित]अशुद्ध है । 'मार्ग' धातु के परस्मैपदी होने से । इसीलिए ['मार्ग' धातु का] शिष्ट प्रयोग [परस्मैपद में ही किया जाता है] जैसे—

[सम्भोग के अनन्तर नग्ना नायिका] कर किसलय को हिला-हिला कर [नीचे पहिनने और ऊपर ओढ़ने के] दोनों वस्त्रों को [पलंग पर इधर-उधर] खोजती है ।

यहा 'विमार्गति' यह 'मार्ग' धातु का परस्मैपद में प्रयोग किया गया है । यही शिष्टानुमोदित प्रयोग होने से शुद्ध प्रयोग है । और 'मार्गन्ताम्' आदि आत्मनेपद में बनाए हुए 'मार्ग' धातु के प्रयोग अशुद्ध है ॥ ७ ॥

लोलमान आदि [आत्मनेपदी सदृश प्रयोग] चानश् [प्रत्यय] में [बने समझने चाहिएं, आत्मनेपदी धातुओ से विहित शानच् प्रत्यय से बने हुए नहीं समझने चाहिएं] ।

लोलमानः वेल्लमानः इत्यादि [आत्मनेपदी धातुओ के सदृश दिखलाई

देने वाले प्रयोग आत्मनेपदी धातु से शानच् प्रत्यय में मुक् का आगम होकर नहीं अपितु परस्मैपदी धातु से ही] चानश [प्रत्यय] में [मुगागम करके बनाए हुए] समझने चाहिए। [उन] धातुओ के परस्मैपदी होने से। [उन धातुओ से परे] शानच् [प्रत्यय] का अभाव है। [परस्मैपदी धातु से शानच् प्रत्यय नही हो सकता है अतएव [1]'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' सूत्र से 'चानश्' प्रत्यय करके उनकी सिद्धि होती है यह समझना चाहिए]

लोलमान, वेल्लमान शब्दो का प्रयोग निम्न श्लोक मे इकट्ठा ही किया गया है—

लोलमाननवमौक्तिकहार वेल्लमानचिकुरञ्जलथमाल्यम्।
स्विन्नवक्त्रमविकस्वरनेत्र कौशल विजयते कलकण्ठ्या ॥८॥

लभ धातु 'डुलभप् प्राप्तौ' इस रूप मे प्राप्ति अर्थ मे भ्वादिगण मे पढा गया है। इस के 'ण्यन्तावस्था' मे दो प्रकार के प्रयोग काव्यो मे-पाए जाते है। कही तो 'अण्यन्तावस्था' का लभ धातु का कर्ता ण्यन्तावस्था मे कर्म हो गया है और उसमे द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हो रहा है। और कही अण्यन्तावस्था का लभ धातु का कर्ता ण्यन्तावस्था मे कर्म नही हुआ है और उसमे ण्यन्तावस्था मे द्वितीया के वजाय तृतीया विभक्ति का प्रयोग हो रहा है। पहिले प्रकार का उदाहरण—

दीर्घिकासु कुमुदानि विकास लम्भयन्ति गिगिरा शशिभास ।

है । इसमे 'लम्भयन्ति' यह णिजन्त का प्रयोग है। इसका अण्यन्तावस्था मे 'कुमुदानि विकास लभन्ते' इस प्रकार का प्रयोग होता है। इसमे 'कुमुदानि' कर्ता है, 'विकास' कर्म है, 'लभन्ते' अण्यन्तावस्था की क्रिया है। 'कुमुदानि विकास लभन्ते, तानि शशिभास प्रेरयन्ति' इस प्रकार प्रयोजक कर्ता मे णिच् प्रत्यय करने पर 'शशिभास कुमुदानि विकास लम्भयन्ति' यह प्रयोग वनता है। इसमे कुमुदानि यह कर्म विभक्ति है और द्वितीया का रूप है। पाणिनि के [2]'गतिवुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ' इस सूत्र से गत्यर्थक आदि धातुओ का अण्यन्तावस्था का कर्ता ण्यन्तावस्था मे कर्म सज्ञक हो जाता है। और उसमे द्वितीया विभक्ति होती है। जैसे—

---

[1] अष्टाध्यायी ३, २, १२९
[2] अष्टाध्यायी १, ४, ५२

लभेर्गत्यर्थत्वाण्णिच्यणौ कर्तुः कर्मत्वाकर्मत्वे । ५, २, ९ ।

शत्रूनगमयत् स्वर्ग वेदार्थ स्वानवेदयत् ।
आशयच्चामृत देवान् वेदमध्यापयद्विधिम् ।
आसयत् सलिले पृथिवी य. स मे श्रीहरिर्गति ॥

इसी प्रकार 'शशिभास कुमुदानि विकास लम्भयन्ति' यह प्रयोग किया गया है । इसमे लभ धातु के प्राप्त्यर्थक होने पर भी उसमे गति का प्राधान्य और प्राप्ति की गौणता होने से गत्यर्थक मान कर अण्यन्तावस्था का कर्ता ण्यन्तावस्था मे कर्म हो गया है ।*

दूसरे उदाहरण मे 'सुतरा सित मुनेर्वपु विसारिभि, द्विजावलिव्याजनिशाकराशुभि सितिम्ना लम्भयन् अच्युत शुचिस्मिता वाचमवोचत्' इस दूसरे उदाहरण मे 'सितिमा मुनेर्वपु लभते' श्वेतिमा मुनि नारद के शरीर को प्राप्त करती है 'त कृष्ण प्रेरयति' कृष्ण उसको प्रेरित करते है, इसलिए कृष्ण नारद मुनि के शरीर को शुक्लता से युक्त करते हुए बोले । यहा अण्यन्तावस्था के कर्ता की कर्म सज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति नही हुई है । अपितु कर्ता के उसके [1]कर्तृकरणयोस्तृतीया' इस सूत्र से उसके कर्ता मे तृतीया विभक्ति होती है । यहा कर्मसज्ञा न होने का कारण लभ धातु की गत्यर्थता का न होना है । लभ धातु का साधारण अर्थ तो धातुपाठ के अनुसार प्राप्ति है । परन्तु वह प्राप्ति गतिपूर्वक ही होती है । उसमे कही गति का प्राधान्य और प्राप्ति का अप्राधान्य होता है तथा कही प्राप्ति का प्राधान्य और गति का अप्राधान्य होता है । इनमे से जहा गति का प्राधान्य होता है वहा धातु को गत्यर्थक मान कर [2]'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ' इस सूत्र से अण्यन्तावस्था के कर्ता की ण्यन्तावस्था मे कर्म सज्ञा होती है । और उसमे द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होता है । और जहा प्राप्ति का प्राधान्य होता है गति गौण होती है वहा लभ धातु को गत्यर्थक नही माना जा सकता है अतएव वहा अण्यन्त अवस्था का कर्ता कर्मसज्ञक नही होता है । वहा कर्ता मे तृतीया विभक्ति होजाती है इस प्रकार लभ धातु के ण्यन्तावस्था मे यह दो प्रकार के प्रयोग पाए जाते है । इस बात को ग्रन्थकार अगले सूत्र मे कहते है —

लभ धातु के गत्यर्थक होने [और कही गत्यर्थक न होने] से णिजन्त

---

[1] अष्टाध्यायी २, ३, १८ ।

[2] अष्टाध्यायी १, ४, ५२ ।

अस्त्ययं लभिर्यः प्राप्त्युपसर्जनां गतिमाह। अस्ति च गत्युपसर्जनां प्राप्तिमाहेति। अत्र पूर्वस्मिन् पक्षे गत्यर्थत्वाभावाल्लभेर्णिच्यणौ कर्ता तस्य [1]गत्यादिसूत्रेण कर्मसंज्ञा। यथा—

दीर्घिकासु कुमुदानि विकासं लम्भयन्ति शिशिराः शशिभासः।

द्वितीयपक्षे गत्यर्थत्वाभावाल्लभेर्णिच्यणौ कर्तुर्न कर्मसंज्ञा। यथा—

सितं सितिम्ना सुतरां मुनेर्वपु-
र्विसारिभिः सौधमिवाथ लम्भयन्।
द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः
शुचिस्मितां वाचमवोचदच्युतः॥ ९॥

[मे प्रयोजक कर्ता की अवस्था] में अण्यन्त अवस्था के कर्ता का कर्मत्व और अकर्मत्व [कहीं कर्मसंज्ञा और कहीं उसका अभाव] होता है।

एक इस प्रकार का लभ धातु [का प्रयोग] है जो, प्राप्ति जिसमें उपसर्जन [गुणीभूत] है ऐसी गति को कहता है। और [दूसरा इस प्रकार का लभ धातु का प्रयोग है] जो, गति जिसमें उपसर्जनीभूत है इस प्रकार की प्राप्ति को कहता है। उन [दोनो में से प्राप्ति जिसमें गुणीभूत है ऐसे गतिप्रधान] प्रथम पक्ष में लभ धातु के गत्यर्थक [गतिप्रधानार्थक] होने से अण्यन्तावस्था में जो कर्ता उसकी [[2]'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स 'णौ' इत्यादि] गत्यादि सूत्र से कर्मसज्ञा हो जाती है। जैसे—

चन्द्रमा की शीतल किरणें वावडियो में कुमुदो को खिलाती [विकास को प्राप्त कराती] है।

यहा कुमुद विकास को प्राप्त करते है इस अण्यन्तावस्था के वाक्य मे कुमुद कर्ता है। शीतल शशिकिरणे कुमुदो को विकास प्राप्त करवाती है। इस णिजन्तावस्था मे प्रयोजक कर्ता शशिकिरणे है। और अण्यन्तावस्था का कर्ता कुमुद यहा कर्म हो गया है।

[प्राप्ति प्रधान] दूसरे पक्ष में [लभ धातु के] गत्यर्थक न होने से णिजन्त में अण्यन्तावस्था के कर्ता की कर्म संज्ञा नहीं होती है। जैसे—

स्वभावतः गौर वर्ण [नारद] मुनि के शरीर को [चारो ओर] फैलने

---

[1] अष्टाध्यायी १, ४, ५२।

[2] अष्टाध्यायी १, ४, ५२।

ते मे शब्दौ निपातेषु ॥ ५,२,१० ॥

त्वया मयेत्यस्मिन्नर्थे ते मे शब्दौ निपातेषु द्रष्टव्यौ । यथा—

श्रुतं ते वचनं तस्य ।
वेदानधीत इति नाधिगतं पुरा मे ॥१०॥

तिरस्कृत इति परिभूतेऽन्तर्ध्युपचारात् ॥ ५,२,११॥

वाली दन्तपक्ति के बहाने चन्द्रमा की किरणो से [और भी अधिक] श्वेतिमा को प्राप्त कराते हुए कृष्ण जी शुभ्रस्मित युक्त वाणी बोले ।

यहा 'लम्भयन्' यह ण्यन्तावस्था की क्रिया है उसका अण्यन्तावस्था का कर्ता 'सितिमा' है । परन्तु यहा गत्यर्थ की प्रधानता न होने से 'गतिबुद्धि' इत्यादि सूत्र से 'सितिमा' की कर्म सज्ञा नही हुई । तब 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इस सूत्र से उसमे तृतीया होकर 'सितिम्ना लम्भयन्' यह प्रयोग बना है ॥ ९ ॥

युष्मद्-अस्मद् शब्द के षष्ठी और चतुर्थी विभक्ति के एकवचन मे 'तुभ्य', 'ते' और 'तव', 'ते' यह दो प्रकार के रूप बनते, है । परन्तु इन दो विभक्तियो के अतिरिक्त कही-कही तृतीयादि विभक्ति मे भी 'ते' 'मे' पदो का प्रयोग देखा जाता है । जैसे 'श्रुत ते वचन तस्य' यहाँ 'त्वया' के स्थान पर 'ते' प्रयुक्त किया गया है । 'वेदानधीते इति नाधिगत पुरा मे' यहाँ 'मे नाधिगतं' का अर्थ 'मया नाधिगतम्' है । इस प्रकार इन उदाहरणो मे तृतीया विभक्ति में 'ते', 'मे' शब्दो का प्रयोग कैसे हुआ है यह शङ्का होती है । उसका समाधान ग्रन्थकार यह करते हैं कि 'ते', 'मे' शब्दो का निपातो मे पाठ मान कर यहा प्रयोग किया गया है । इसी बात को अगले सूत्र मे कहते हैं—

'ते', 'मे' शब्द निपातो में [पठित] हैं ।

'त्वया' 'मया' इस [तृतीयान्त के] अर्थ में 'ते' [त्वया], 'मे' [मया] शब्द निपातो में देखने चाहिएं । जैसे—

तुमने उसका वचन सुना ।

[वह] वेद पढता है यह बात मैंने पहले नही जानी ।

[इन दोनो उदाहरणो मे निपात पठित 'ते', 'मे' शब्दो का प्रयोग समझना चाहिए] ॥ १० ॥

'तिरस्कृत' यह [शब्द] परिभूत [अपमानित] अर्थ में अन्तर्धान [छिप जाने] के सादृश्य से [गौणीवृत्ति लक्षणा से प्रयुक्त होता] है ।

तिरस्कृत इति शब्दः परिभूते दृश्यते। 'राज्ञा तिरस्कृत' इति। स च न प्राप्नोति। तिरः शब्दस्य हि [1]"तिरोऽन्तर्धौ" इत्यन्तर्धौ गतिसंज्ञा। तस्यां च सत्यां [2]"तिरसोऽन्यतरस्याम्" इति सकारः। तत्कथं तिरस्कृत इति परिभूते।

आह, अन्तर्ध्युपचारात्, इति। परिभूतो ह्यन्तर्हितवद् भवति। मुख्यस्तु प्रयोगो यथा—

लावण्यप्रसरतिरस्कृताङ्गलेखाम् ॥ ११ ॥

'तिरस्कृतः' यह शब्द अपमानित इस अर्थ में [प्रयुक्त हुआ] देखा जाता है। [जैसे] 'राजा से तिरस्कृत' [राजा से अपमानित]। वह [परिभूत या अपमानित अर्थ में तिरस्कृत शब्द का प्रयोग व्याकरण के नियमानुसार] प्राप्त नहीं होता है। 'तिरः' शब्द की अन्तर्धान [अर्थ] में [3]'तिरोऽन्तर्धौ' सूत्र से गति सज्ञा होती है। और उस [गतिसंज्ञा] के हो जाने पर [4]'तिरसोऽन्यतरस्याम्' इस सूत्र से [विसर्ग को क के परे रहते] सकार [होकर 'तिरस्कृत.' यह रूप] होता है। तब परिभूत अर्थ में [गतिसज्ञा न होने से] 'तिरस्कृत.' यह [प्रयोग] कैसे होगा।

[इस शङ्का के होने पर उसके समाधान के लिए] कहते हैं। अन्तर्धान का [अपमानित में] सादृश्य होने से। अपमानित [व्यक्ति] अन्तर्हित के समान [अलक्ष्य, उपेक्षित] हो जाता है। [इसलिए सादृश्य लक्षणा से परिभूत के लिए भी तिरस्कृत शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। इस तिरस्कृत शब्द का] मुख्य प्रयोग तो [इस प्रकार के उदाहरणो में समझना चाहिए] जैसे—

सौन्दर्य के प्रसार से जिसकी देह रेखाएं छिप गई हैं [ऐसी सुन्दरी को] ॥ ११ ॥

निषेध के अर्थ मे नञ् का प्रयोग होता है। इसका [5]'नञ्' इस सूत्र से सुबन्त के साथ समास होता है। उसके बाद [6]'नलोपो नञ' इस सूत्र से उत्तरपद परे रहते नञ् के न का लोप हो जाता है। उसके बाद यदि 'द्वितीय' आदि उत्तरपद परे हैं तब अद्वितीय रूप बन जाता है। परन्तु जहाँ अजादि 'एक' आदि

[1-3] अष्टाध्यायी १, ४, ७१।

[2-4] अष्टाध्यायी ८, ३, ४२।

[5] अष्टाध्यायी २, २, ६।

[6] अष्टाध्यायी ६, ३, ७३।

नैकशब्दः सुप्सुपेति समासात् ॥ ५,२,१२ ॥

अरण्यानीस्थानं फलनमितनैकद्रुमिदम् ।

इत्यादिषु नैकशब्दो दृश्यते । स च न सिद्ध्यति । नञ्समासे हि [1]'नलोपो नञः' इति नलोपे [2]'तस्मान्नुडचि' इति नुडागमे सति अनेकमिति रूपं स्यात् । निरनुबन्धस्य न शब्दस्य समासे लक्षणं नास्ति । तत्कथं 'नैक' शब्द इत्याह । सुप्सुपेति समासात् ॥१२॥

शब्द परे हो वहाँ [3]'तस्मान्नुडचि' इस सूत्र से लुप्त नकार' नञ्' से परे, अजादि 'एक' के पूर्व 'नुट्' का आगम होकर 'अनेक' पद बनता है । इसलिए नञ् का 'एक' पद के साथ समास होकर 'अनेक' यह रूप बनता है । 'नैक' पद नही बनता है । 'नञ्' के अतिरिक्त निषेधार्थ मे 'न' पद भी हो सकता है । परन्तु उसके समास का विधायक कोई सूत्र नही है । 'नञ्' इस सूत्र से 'नञ्' का ही समास होता है 'न' का नही । तब 'नैक' पद का प्रयोग कैसे होता है । यह शङ्का है । इसका उत्तर ग्रन्थकार ने यह दिया है कि 'नैक' इस पद मे नञ् का नही अपितु निषेधार्थक केवल 'न' पद का 'एक' पद के साथ 'सुप्सुपा'—'सुबन्त सुबन्तेन सह समस्यते' इस नियम के अनुसार समास करके 'नैक' पद का प्रयोग किया जाता है । इसी बात को अगले सूत्र मे कहते है—

'नैक' शब्द [का प्रयोग] सुप्सुपा [इस नियम के अनुसार किए हुए] समास से [सिद्ध होता है] ।

यह वनस्थान फलो से झुके हुए अनेक वृक्षो से युक्त है ।

इत्यादि [उदाहरणो] में 'नैक' शब्द [का प्रयोग] देखा जाता है । [परन्तु व्याकरण के नियम के अनुसार] वह सिद्ध नही होता है । [क्योकि 'नञ्' सूत्र मे] नञ् समास होने पर [4]'नलोपो नञः' इस सूत्र से [नञ् के] न का लोप होने पर और [5]'तस्मान्नुडचि' इस सूत्र से नुडागम करने पर 'अनेकम्' यह रूप [सिद्ध] होगा । ['नैकम्' यह सिद्ध नही होगा । और नकार रूप] अनुबन्ध रहित [केवल] न शब्द का समास होने का [विधायक] सूत्र नही है । तब 'नैक' इस शब्द [की सिद्धि] कैसे होगी [इस शङ्का का समाधान करने] के लिए कहते है । 'सुप्सुपा' इस [नियम] से समास होने से ['नैक' शब्द सिद्ध होता है] ।

[1-4] अष्टाध्यायी ६, ३, ७२ ।

[2-3] अष्टाध्यायी ६, ३, ७३ ।

मधुपिपासुप्रभृतीनां समासो गमिगाम्यादिषु पाठात् ॥५,२,१३॥

मधुपिपासुमधुव्रतसेवितं मुकुलजालमजृम्भत वीरुधाम् ।

इत्यादिषु मधुपिपासुप्रभृतीनां समासो गमिगाम्यादिषु पिपासु-प्रभृतीनां पाठात् । श्रितादिषु गमिगाम्यादीनां द्वितीयासमासलक्षणं दर्शयति ॥१३॥

'सुप्सुपा' समास का अभिप्राय यह है कि महाभाष्यकार ने [1]'सह सुपा' सूत्र का योग-विभाग कर जो 'सुवन्त सुवन्तेन सह समस्यते' यह नियम बनाया है उसके अनुसार 'न' और 'एक' पद का समास होकर 'नैक' पद सिद्ध किया जा सकता है ॥ १२ ॥

समास के प्रसग मे 'मधुपिपासु' सदृश समासो का विषय भी सदिग्ध हो सकता है इसलिए उसका स्पष्टीकरण करने के लिए अगला सूत्र लिखते है। 'मधुपिपासु' मे मधु को पीने की इच्छा वाला इस प्रकार का द्वितीया समास अथवा मधु का पिपासु इस प्रकार का षष्ठी तत्पुरुष समास हो सकता है। परन्तु द्वितीया समास के विधायक [2]'द्वितीयाश्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नै' इस सूत्र मे पिपासु आदि पदो का पाठ न होने से द्वितीया तत्पुरुष नही हो सकता है। और [3]'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इस सूत्र से 'पिपासु' 'दिदृक्षु' आदि 'उ' प्रत्ययान्तो के, योग मे षष्ठी विभक्ति का ही निषेध होने से षष्ठी-तत्पुरुष समास भी नही हो सकता है। तब 'मधुपिपासु' आदि प्रयोग कैसे बन सकते है। यह शङ्का होती है। उसका समाधान यह करते है कि इस प्रकार के प्रयोगो मे 'गमिगाम्यादीनामुपसख्यानम्' इस वार्तिक के अनुसार द्वितीया तत्पुरुष समास हो सकता है। इसी बात को अगले सूत्र मे कहते है।

मधुपिपासु इत्यादि [पदो] का [द्वितीया तत्पुरुष] समास ['गमि-गाम्यादीनामुपसंख्यानम्' इस वार्तिक के अन्तर्गत] गमिगाम्यादिको में पाठ होने से [हो जाता] है।

मधुपिपासु भ्रमरकुल से सेवित लताओ का पुष्पसमूह विकसित हुआ। इत्यादि [प्रयोगो] में 'मधुपिपासु' इत्यादि [शब्दो] का समास 'गमिगाम्या-

---

[1] अष्टाध्यायी २, १, ४।

[2] अष्टाध्यायी २, १, २४।

[3] अष्टाध्यायी २, ३, ६९।

त्रिवलीशब्दः सिद्धः सज्ञा चेत् । ५, २, १४ ।

त्रिवलीशब्दः सिद्धो यदि संज्ञा । [1]'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' इति संज्ञायामेव समासविधानात् ॥ १४ ॥

बिम्बाधर इति वृत्तौ मध्यमपदलोपिन्याम् । ५, २, १५ ।

दिको' में 'पिपासु' प्रभृति [पदो] का पाठ होने से [हो सकता] है। 'श्रितादि' में 'गमिगाम्यादिको' के [द्वितीया तत्पुरुष] समास का विधान [विधायक सूत्र] दिखलाया है ॥ १३ ॥

समास के प्रसग मे ही 'त्रिवली' शब्द का समास भी सन्देहास्पद हो सकता है। यदि त्रिवली शब्द असज्ञा हो तो उसमे [2]तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इस सूत्र से सख्यावाचक 'त्रि' शब्द का 'वली' के साथ समास कहा जा सकता है। परन्तु यहाँ 'पञ्चकपाल' के समान 'तद्धितार्थ' विपय नही है। और न 'पञ्चगवधन' के समान 'उत्तरपद' विषय है और नही 'पञ्चपात्र' इत्यादि के समान 'समाहार' विवक्षित है क्योकि समाहारपक्ष मानने पर [3]'स नपुसकम्' इस सूत्र के अनुसार 'त्रिवली' पद नपुसक लिग हो जाना चाहिए था। इसलिए [4]'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इस सूत्र से समास नही हो सकता है। यह शङ्का होती है। इसका समाधान सूत्रकार इस प्रकार करते है· कि 'त्रिवली' शब्द को सज्ञा शब्द मान कर [1]'दिक्सख्ये सज्ञायाम्' इस सूत्र से 'त्र्यवयवा वली त्रिवली' इस विग्रह मे समास होकर 'त्रिवली' पद सिद्ध होता है। यह वात अगले सूत्र मे कहते है।

त्रिवली शब्द [का समास] सिद्ध है यदि वह संज्ञा है।

'त्रिवली' शब्द सिद्ध है यदि संज्ञा है। 'दिक्संख्ये सज्ञायाम्' [अष्टाध्यायी २, १ ५०] इस [सूत्र] से संज्ञा में ही समास का विधान होने से।

'त्रिवली' शब्द का प्रयोग निम्न उदाहरण मे पाया जाता है।

कोणस्त्रिवल्येव कुचावलावूस्तस्यास्तु दण्डस्तनुरोमराजि·।
हारोऽपि तन्त्रीरिति मन्मथस्य सगीतविद्यासरलस्य वीणा ॥ १४ ॥

'बिम्बाधर' यह [समस्त पद] मध्यमपदलोपी समास होने पर [सिद्ध हो सकता] है।

[1-1] अष्टाध्यायी २, १, ५० ।
[2] अष्टाध्यायी २, १, ५१ ।
[3] अष्टाध्यायी २, ४, १७ ।
[4] अष्टाध्यायी २, १, ५१ ।

'विम्बाधरः पीयते' इति प्रयोगो दृश्यते। स च न युक्तः। 'अधर-विम्ब' इति भवितव्यम्। [1]'उपमितं व्याघ्रादिभि' रिति समासे सति कथं विम्बाधर इत्याह। वृत्तौ मध्यमपदलोपिन्याम्। 'शाकपार्थिवत्वात्' समासे। मध्यमपदलोपिनि समासे सति विम्बाकारोऽधरो विम्बाधर इति। तेन विम्बोष्ठशब्दोऽपि व्याख्यात.। अत्रापि पूर्ववद् वृत्तिः। शिष्टप्रयोगेषु चैष विधिः। तेन नातिप्रसङ्गः॥ १५॥

आमूललोलादिषु वृत्तिर्विस्पष्टपटुवत्। ५, २, १६।

'आमूललोलम्' 'आमूलसरसम्' इत्यादिषु वृत्तिर्विस्पष्टपटुवन् [2]मयूरव्यंसकादित्वात्॥ १६॥

'विम्बाधरः पीयते' इस प्रकार का प्रयोग पाया जाता है। वह उचित नहीं है। [अधरो बिम्बमिव इस विग्रह में] [3]'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्या-प्रयोगे' इस सूत्र से समास होने पर 'अधरबिम्ब' यह [प्रयोग] होना चाहिए। [बिम्बाधर नहीं] तो 'बिम्बाधर.' प्रयोग कैसे होता है। इस [शङ्का के होने] पर [उसके समाधान के लिए] कहते हैं। ['बिम्बाकारोऽधरः बिम्बाधरः' इस प्रकार 'आकार' रूप] मध्यमपदलोपी वृत्ति में 'शाकपार्थिवत्वात्' समास होने पर [बिम्बाधर. पद बनता है। अर्थात् 'शाकपार्थिवादीना सिद्धये उत्तर-पदलोपस्योपसख्यानम्' इस वार्तिक से 'शाकप्रिय. पार्थिव शाकपार्थिवः' के समान 'शाकपार्थिवत्वात्']। मध्यमपदलोपी समास करने पर 'बिम्बाकारो अधरः बिम्बाधर.' इस प्रकार 'बिम्बाधर' यह [पद बन सकता] है। इसी से 'बिम्बोष्ठ' शब्द की भी व्याख्या हो गई। [यहा 'बिम्बाकार ओष्ठः' इस विग्रह में 'शाकपार्थिवत्वात्' मध्यमपदलोपी समास होकर 'बिम्बोष्ठ' पद सिद्ध हो सकता है]। यहा भी पूर्व [बिम्बाधर] के समान [मध्यमपदलोपी] समास है। यह प्रकार शिष्ट प्रयोगो के लिए ही है। इसलिए ['व्याघ्राकारः पुरुष व्याघ्र-पुरुष' इस प्रकार के नए प्रयोग में] अतिव्याप्ति नही हो सकती है॥१५॥

'आमूललोलम्' इत्यादि में 'विस्पष्टपटु' के समान [[4]'मयूरव्यसका-दयश्च' इस सूत्र से अविहितलक्षण तत्पुरुष समास होता है]।

'आमूललोलम्' 'आमूलसरसम् इत्यादि [प्रयोगो] में 'विस्पष्ट पटु' के समान 'मयूरव्यसकादित्वात्' समास होता है॥ १६॥

[1-3] अष्टाध्यायी २, १, ५६।

[2-4] अष्टाध्यायी २, १, ७८।

न धान्यपष्ठादिषु षष्ठीसमासप्रतिषेधः 'पूरणेनान्यतद्धितान्तत्वात् ॥ ५, २, १७ ।

'धान्यपष्ठम्', 'तान्युञ्छपष्ठाङ्कितसैकतानि' इत्यादिषु न षष्ठीसमासप्रतिषेधः । पूरणेन, पूरणप्रत्ययान्तेनान्यतद्धितान्तत्वात् । षष्ठो भागः षष्ठ इति [1]'पूरणाद्भागे तीयादन्' [2]'षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च' इत्यन विधानात् स प्राप्तः ॥ १७ ॥

पत्रपीतिमादिषु गुणवचनेन । ५, २, १८ ।

'पत्रपीतिमा, पक्ष्माली-पिङ्गिलिमा' इत्यादिषु पष्ठीसमासप्रतिषेधो गुणवचनेन प्राप्तो, वालिश्यात्तु न कृतः ॥ १८ ॥

'धान्यषष्ठः' इत्यादि [प्रयोगो] में [3]'पूरण-गुण-सुहितार्थ-सदव्यय-तव्य-समानाधिकरणेन' [इत्यादि सूत्र से 'सतां षष्ठः' के समान] षष्ठी समास का प्रतिषेध नहीं होता है। [क्योकि 'धान्यषष्ठः' में प्रयुक्त षष्ठ शब्द के] पूरण, [अर्थक प्रत्यय] से अन्य [[4]'पूरणाद्भागे तीयादन्', इस सूत्र के अधिकार में 'षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च' ५, ३, ५० इस सूत्र से अन् प्रत्यय रूप] तद्धितान्त होने से।

'धान्यषष्ठम्' 'उञ्छषष्ठ से अङ्कित बालू वाले' [प्रयोगों] में [पूरणगुण-सुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन २, २, ११ इस सूत्र से 'षष्ठ' शब्द को 'पूरण-प्रत्ययान्त' मान कर] षष्ठी समास का निषेध नहीं किया जा सकता है [क्योकि षष्ठ शब्द में] पूरण अर्थात् पूरण प्रत्ययान्त से अन्य ['पूरणाद्भागे तीयादन्' ५, ३, ४८ के अधिकार में 'षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च' ५, ३, ५० इस सूत्र से विहित 'अन्' प्रत्यय रूप] तद्धितान्त होने से। 'षष्ठो भागः षष्ठ' इस [विग्रह] में 'पूरणाद्भागे तीयादन्' [की अनुवृत्ति मे] 'षष्ठाष्टमाभ्या ञ्च' [५, ३, ५०] इस से अन् का विधान होने से वह [षष्ठी तत्पुरुष समास] प्राप्त है ॥१७॥

'पत्रपीतिमा' इत्यादि [प्रयोगों] में [पीतिमा रूप] गुण [का] वचन होने से ['पूरणगुण' इत्यादि पूर्वोक्त सूत्र के अनुसार षष्ठी समास का निषेध होना चाहिए । वह नहीं किया गया है । अतः यह प्रयोग दूषित है]।

'पत्रपीतिमा', 'पक्ष्मालीपिङ्गलिमा' इत्यादि [प्रयोगो] में गुणवचन

[1-4] अष्टाध्यायी ५, ३, ४८ ।

[2] अष्टाध्यायी ५, ३, ५० ।

[3] अष्टाध्यायी २ २. ११ ।

अवर्ज्यो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदः । ५, २, १९ ।

अवर्ज्यो न वर्जनीयो व्यधिकरणो बहुव्रीहिः । जन्माद्युत्तरपदं यस्य स जन्माद्युत्तरपदः ।

यथा—

'सच्छास्त्रजन्मा हि विवेकलाभः' ।
'कान्तवृत्तयः प्राणा' इति ॥ १९ ॥

[पीतिमा, पिङ्गलिमा आदि गुणो का कथन होने] से गुणवचन से [अर्थात् 'पूरणगुण' इत्यादि पूर्वोक्त सूत्र से] षष्ठी समास का प्रतिषेध प्राप्त है । [परन्तु इन प्रयोगो में प्रयोगकर्ता ने] मूर्खतावश [समास का निषेध] नहीं किया [अर्थात् समास कर दिया] है । [अत. यह प्रयोग दूषित है] ।

सिद्धान्तकौमुदीकार ने 'अनित्योऽय गुणेन निषेध. । तदशिष्य सज्ञा-प्रमाणत्वात् इत्यादिनिर्देशात्' लिख कर इस गुण के साथ षष्ठी समास के प्रतिषेध की अनित्यता सूचित की है । उस दशा मे यह अशिष्टप्रयोग बन सकते है । यह अन्य लोगो का मत है ॥ १८ ॥

जन्मादि उत्तरपद वाला बहुव्रीहि [समास] अवर्जनीय है ।

यद्यपि साधारणत. 'पीत अम्बर यस्य स पीताम्बर' आदि के समान बहुव्रीहि समास मे समस्यमान दोनो पदो का सामानाधिकरण्य अर्थात् विशेष रूप से प्रथमान्तत्व ही होता है । इसका प्रतिपादन 'बहुव्रीहि समानाधिकरणानाम्' इस वार्तिक मे किया गया है । परन्तु इस वार्तिक का बाधक 'न वा नभिधानादसमानाधिकरणेषु समासज्ञाभाव' यह वार्तिक भी पाया जाता है । इस वार्तिक मे व्यधिकरण समास का भी समर्थन होता है इसलिए जन्मादि के उत्तरपद होने पर व्यधिकरण बहुव्रीहि भी हो सकता है यह तात्पर्य है ।

व्यधिकरण बहुव्रीहि अवर्ज्य अर्थात् वर्जनीय [निषिद्ध] नहीं है । जन्मादि [पद] जिसके उत्तरपद है वह जन्माद्युत्तरपद वाला [व्यधिकरण बहुव्रीहि समास वर्जनीय नही है] ।

जैसे—

'सच्छास्त्रजन्मा हि विवेकलाभ.' [में 'सच्छास्त्रात् जन्म यस्य' इस बहुव्रीहि में सच्छास्त्रात् पञ्चमी विभक्ति और 'जन्म' प्रथमान्त होने से व्यधिकरण बहुव्रीहि है] और 'कान्तवृत्तयः प्राणा.' [में कान्ते प्रिये वृत्तिर्येषां ते कान्तवृत्तय' में 'कान्ते' सप्तम्यन्त तथा 'वृत्ति.' प्रथमान्त होने मे व्यधिकरण बहुव्रीहि है] ॥ १९ ॥

हस्ताग्राग्रहस्तादयो गुणगुणिनोर्भेदाभेदात् । ५, २, २० ।

हस्ताग्रम्, अग्रहस्तः, पुष्पाग्रम्, अग्रपुष्पमित्यादयः प्रयोगाः कथम् । [1]आहिताग्न्यादिषु अपाठात् । पाठे वा तदनियमः स्यात् । आह, गुण-गुणिनोर्भेदाभेदात् । तत्र भेदाद् हस्ताग्रादयः अभेदादग्रहस्तादयः ॥ २० ॥

'हस्ताग्र' तथा 'अग्रहस्त' आदि [प्रयोग] गुण-गुणी के भेद और अभेद से [सिद्ध हो सकते] हैं ।

'हस्ताग्रम्', 'अग्रहस्तः', 'पुष्पाग्रम्' और 'अग्रपुष्पम्' इत्यादि [परस्पर भिन्न] प्रयोग कैसे [सिद्ध] होते हैं । [आहिताग्नि गण में पठित शब्दो में [2]'वाहिताग्न्यादिषु' इस सूत्र से विकल्प होने के कारण 'आहिताग्निः' और 'अग्न्याहितः' यह दोनो प्रकार के प्रयोग देखे जाते हैं । उसी प्रकार इन 'हस्ताग्रम्' 'अग्रहस्त' आदि प्रयोगो को सिद्ध करना चाहे तो वह भी नही हो सकता है] । 'आहिताग्नि आदि' [गण] मे [हस्ताग्रम्, अग्रहस्तः आदि का] पाठ न होने से । [और यदि 'आहिताग्नि गण' को 'आकृतिगण' मान कर उसमें अपठित 'हस्ताग्रम्' आदि शब्दो का पाठ मानना चाहे तो भी उचित नही होगा क्योकि वह सूत्र बहुव्रीहि समास के प्रकरण का है और 'हस्ताग्रम्' आदि में षष्ठी तत्पुरुष समास ही सङ्गत हो सकता है बहुव्रीहि नही । इसलिए 'आहिताग्नि गण' में हस्ताग्रम् आदि का] पाठ मानने पर उस ['वाहिताग्न्यादिषु' इस सूत्र] का [बहुव्रीहि समासविषयक]नियम नहीं बनेगा । [यह शङ्का हो सकती है] इसलिए [उसके समाधानार्थ] कहते हैं । गुण और गुणी के भेद तथा अभेद से [यह द्विविध प्रयोग बनते हैं । यहां गुण शब्द का अर्थ अवयव है । 'अत्र गुणशब्देन परार्थत्वसादृश्यादवयवा लक्ष्यन्ते] । उसमें [हस्त रूप गुणी और उसके अवयव भूत अग्र रूप गुण का] भेद [मानने] से ['हस्तस्य अग्रम्' इस प्रकार षष्ठी तत्पुरुष समास करके] 'हस्ताग्रम्' आदि [प्रयोग बनते हैं ।] और [हस्त रूप गुणी तथा उसके अवयवभूत अग्र रूप का] अभेद मानने पर [अग्रश्चासौ हस्तः] 'अग्रहस्त' आदि [प्रयोग सिद्ध होते है] । इनमें [2]'विशेषण विशेष्येण बहुलम्' इस सूत्र से समास होता है] ॥ २० ॥

---

[1] अष्टाध्यायी २, २, ३७ ।

[2] अष्टाध्यायी २, १, ५७ ।

गुणविस्तरादयश्चिन्त्या. । ५, ३, ३९ ।

गुणविस्तरः, व्याक्षेपविस्तरः इत्यादयः प्रयोगाश्चिन्त्याः । [1]'प्रथने वावशब्दे' इति घञ् प्रसङ्गात् ॥ ३२ ॥

अवतरापचायशब्दयोर्दीर्घह्रस्वत्वव्यत्यासो बालानाम् । ५, २, ४० ।

अवतरशब्दस्यापचायशब्दस्य च दीर्घह्रस्वत्वव्यत्यासो बालानां बालिशानां प्रयोगेष्विति । ते ह्यवतरणमवतार इति प्रयुञ्जते । मारुतावतार इति । स ह्ययुक्तः । भावे तरतेरबविधानात् । अपचायमपचय इति प्रयुञ्जते पुष्पापचय इति । अत्र [2]'हस्तादाने चेरस्तेये' इति घञ् प्राप्त इति ॥ ४० ॥

शोभेति निपातनात् । ५, २, ४१ ।

शोभेत्ययं शब्दः साधुः । निपातनात् । 'शुभ शुम्भ शोभार्थौ' इति ।

गुणविस्तर आदि [प्रयोग] चिन्त्य [अशुद्ध] हैं ।

'गुण विस्तरः' 'व्यक्षेप विस्तरः' इत्यादि प्रयोग चिन्त्य [असाधु] हैं । 'प्रथने वाव शब्द' इस सूत्र से [वि पूर्वक स्तृ धातु से] घञ् का विधान होने से ['गुणविस्तारः' प्रयोग होना चाहिए । 'गुणविस्तर.' नही] ॥ ३९ ॥

'अवतर' और 'अपचाय' शब्दो मे दीर्घ ह्रस्व का परिवर्तन मूर्खो का [प्रयोग] है ।

'अवतर' शब्द और 'अपचाय' शब्द के दीर्घ ह्रस्व का उलट-पुलट बालको अर्थात् मूर्खो [बालिशो] के प्रयोगो मे हो जाता है । वे [मूर्ख पुरुष] अवतरण को 'अवतार' इस रूप सें प्रयुक्त करते हैं । जैसे 'मारुतावतार' । वह [अवतार रूप प्रयोग] अयुक्त है । भाव में तृ धातु से [[3]'ऋदोरप्' इस सूत्र से] अप् [प्रत्यय] का विधान होने से । 'अपचाय' के स्थान पर 'अपचय' यह प्रयोग करते हैं । जैसे 'पुष्पापचय' । यहा 'हस्तादाने चेरस्तेये' इस सूत्र से घञ् प्राप्त है । [अतः यहां 'पुष्पापचायः' यह प्रयोग होना चाहिए । 'अवतरः' की जगह 'अवतार.' और 'अपचायः' की जगह 'अपचयः' प्रयोग में दीर्घ ह्रस्व की गड़बड़ बालिशता की सूचक है] ॥ ४० ॥

शोभा यह [शब्द] निपातन से [बनता] है ।

शोभा यह शब्द [भी] शुद्ध है । निपातन से । 'शुभ शुम्भ शोभार्थौ'

---

[1] अष्टाध्यायी ३, ३, ३३ । [2] अष्टाध्यायी ३, ३, ४०
[3] अष्टाध्यायी ३, ३ ५७ ।

शुभेर्भिदादेराकृतिगणत्वात् अङ् सिद्ध एव । गुणप्रतिषेधाभावस्तु निपात्यते इति । शोभार्थावित्यत्रैकदेशे किं 'शोभा' आहोस्वित् 'शोभ' इति विशेषावगतिराचार्यपरम्परोपदेशादिति ॥ ४१ ॥

अविधौ गुरो. स्त्रिया बहुल विवक्षा । ५, २, ४२ ।

अविधौ 'अ' विधाने 'गुरोश्च हल' इति स्त्रियां बहुलं विवक्षा ।

यह ['शोभा' पद का पाठ 'शोभा' शब्द की साधुता को सूचित करता है] । शुभ धातु से भिदादि ['षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इस सूत्र में पठित भिदादि] [गण] के आकृति गण होने से अङ् [प्रत्यय] तो सिद्ध ही है । [परन्तु अङ् प्रत्यय के होने पर ङित् होने से गुण का प्रतिषेध प्राप्त होने पर] गुण के प्रतिषेध का अभाव [अर्थात् गुण की प्राप्ति] निपातित है । 'शोभार्थौ' इस पद के एक देश में क्या 'शोभा' [यह पदच्छेद किया जाय] यह अथवा 'शोभ' यह [पदच्छेद किया जाय] इस विशेष ['शोभा' या 'शोभ' पद] का निर्णय आचार्य परम्परा के उपदेश से समझना चाहिए ।

अर्थात् धातुपाठ 'शुभ शुम्भ शोभार्थौ' मे शोभार्थौ' इस निपातन से ही 'अङ्' प्रत्यय परे रहते शुभ धातु मे गुण का निपातन किया है । इस प्रकार 'शोभ शब्द वन जाने के वाद 'अ प्रत्ययात्' [1] सूत्र से स्त्रीलिंग मे 'अ' प्रत्यय होकर 'शोभा' शब्द वन सकता है । और या जैसे कि अगले सूत्र मे 'अ' प्रत्यय की 'वहुल विवक्षा' का वर्णन करेंगे उसके अनुसार यदि यह 'अ' प्रत्यय न किया जाय तो 'शोभ' यह पुल्लिग प्रयोग भी वन सकता है । जैसे 'वाधा' और 'वाध,' 'ऊहा' और 'ऊह,' 'व्रीडा' और 'व्रीड' यह दोनो प्रकार के रूप वनते है । इसी प्रकार 'शोभा' और 'शोभ' यह दोनो प्रकार के रूप वन सकते है । उनमे से यहा 'शोभार्थौ' इस पाठ मे 'शोभा' पदच्छेद किया जाय या 'शोभ', यह वात आचार्य परम्परा से समझनी चाहिए । अर्थात् यहा 'शोभा' पदच्छेद ही करना चाहिए क्योकि 'शोभा' शब्द की सिद्धि करने के लिए ही यह सूत्र लिखा गया है ॥ ४१ ॥

'अ' प्रत्यय के विधान में ['गुरोश्च हल' इस सूत्र से] स्त्रीलिङ्ग में गुरुवर्णयुक्त शब्द से 'अ' प्रत्यय की बहुल विवक्षा होती है ।

'अ' प्रत्यय के विधान में 'गुरोश्च हल.' [2] [इस सूत्र से विहित

---

[1] अष्टाध्यायी ३, ३, १०२ ।

[2] अष्टाध्यायी ३, ३, १०३ ।

क्वचिद्विवक्षा, क्वचिदविवक्षा, क्वचिदुभयमिति। विवक्षा यथा 'ईहा', 'लज्जा' इति। अविवक्षा यथा 'आतंक' इति। विवक्षाऽविवक्षे यथा 'बाधा', 'बाधः'; 'ऊहा', 'ऊहः'; 'व्रीडा', 'व्रीड' इति ॥ ४२ ॥

व्यवसितादिषु क्तः कर्तरि चकारात् । ५, २, ४३ ।

'व्यवसितः' 'प्रतिपन्न' इत्यादिषु भावकर्मविहितोऽपि क्तः कर्तरि। गत्यादिसूत्रे चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् । भावकर्मानुकर्षणार्थत्वञ्चकारस्येति चेत्, आवृत्तिः कर्तव्या ॥ ४३ ॥

'अ' प्रत्यय] की स्त्रीलिङ्ग में बहुल करके विवक्षा होती है। १. कहीं विवक्षा हो २. कहीं विवक्षा न हो, ३. कही दोनो हो [यह 'बहुल' पद का अभिप्राय है]। विवक्षा [का उदाहरण] जैसे 'ईहा', 'लज्जा' [यहां 'अ' प्रत्यय हुआ है]। अविवक्षा [का उदाहरण] जैसे 'आतङ्क' [यहा 'अ' प्रत्यय नही हुआ है]। विवक्षाविवक्षा उभय [का उदाहरण] जैसे 'बाधा' 'बाध'; 'ऊहा' 'ऊहः'; 'व्रीडा, 'व्रीडः' [इनमे 'अ' प्रत्यय हुआ भी है और नही भी हुआ है। इसलिए विकल्प से दो प्रकार के रूप बने है]।

वाहुलक का इसी आशय का लक्षण व्याकरण ग्रन्थो मे इस प्रकार किया गया है—

क्वचित् प्रवृत्ति क्वचिदप्रवृत्ति क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधान वहुधा समीक्ष्य चतुर्विध वाहुलक वदन्ति ॥ ४२ ॥

'व्यवसितः' इत्यादि में 'क्त' प्रत्यय कर्ता में होता है [गत्यादि सूत्र में] चकार से [अनुक्त का समुच्चय होने से]।

[साधारणतः] भाव कर्म मे विहित [होने पर] भी 'क्त' [प्रत्यय]' 'व्यवसितः' [किमसि कतुं व्यवसितः] 'प्रतिपन्नः' इत्यादि [प्रयोगो] में [भाव या कर्म में न होकर] कर्ता में हुआ है। गत्यादि [गत्यर्थाकर्मक-श्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च] सूत्र में [गत्यर्थक, अकर्मक, श्लिष, शीङ्, स्था, अस, वस, जन, रुह, जृ धातुओ से क्त प्रत्यय का कर्ता में विशेष रूप से विधान किया गया है। सूत्र के अन्त में जोड़े हुए] 'चकार' के अनुक्त समुच्चयार्थक होने से। [उस अनुक्त समुच्चय वश से ही 'व्यवसितः' 'प्रतिपन्न' इत्यादि में भी कर्ता में 'क्त' प्रत्यय हो जाता है। यदि यह कहो कि उक्त गत्यादि सूत्र में अनुक्त समुच्चय के लिए चकार का ग्रहण नहीं किया गया अपितु] भाव कर्म के अनुकर्षण [अनुवृत्ति लाने] के लिए चकार [का ग्रहण] है तो

आहेति भूतेऽन्यणलन्तभ्रमाद् ब्रुवो लटि । ५, २, ४४ ।

'ब्रुवः पञ्चानाम्' इत्यादिना 'आह' इति लटि व्युत्पादितः । स भूते प्रयुक्तः । 'इत्याह भगवान् प्रभुः' इति । अन्यस्य भूतकालाभिधायिनो णलन्तस्य लिटि भ्रमात् । निपुणाश्चैवं प्रयुञ्जते । 'आह स्म स्मितमधुमधुराक्षरा गिरम्' इति । 'अनुकरोति भगवतो नारायणस्य' इत्यत्रापि मन्ये 'स्म' शब्दः कविना प्रयुक्तो लेखकैस्तु भ्रमादान्न लिखित इति ॥ ४४ ॥

[फिर चकार की] आवृत्ति करनी चाहिए । [जिससे एक चकार से भाव कर्म का अनुकर्षण हो सके और आवृत्ति किये हुए दूसरे चकार से अनुक्त का समुच्चय भी हो सके । इस प्रकार गत्यादि सूत्र में उक्त चकार अथवा आवृत्ति द्वारा सिद्ध चकार से अनुक्त का समुच्चय मान कर 'व्यवसित, 'प्रतिपन्नः' इत्यादि सकर्मक धातुमूलक प्रयोगो में कर्ता में भी 'क्त' प्रत्यय हो सकेगा] ॥ ४३ ॥

ब्रू ['ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि'] धातु का [वर्तमान काल सूचक] लट् [लकार] में [बना हुआ] 'आह' इस [वर्तमान काल के बोधक प्रयोग को कुछ लोग कभी-कभी 'उवास' आदि] अन्य णलन्त [प्रयोगो] के [समान समझकर] भ्रम से भूत काल में [प्रयुक्त कर देते हैं । यह उचित नहीं भ्रान्त प्रयोग] है ।

'ब्रुव पञ्चानामादित आहो ब्रुव.' अष्टा० ३, ४, ८४ इत्यादि [सूत्र] से [परस्मैपद में ब्रू धातु के लट् लकार के आदि से पाच अर्थात् १. तिप्, २. तस्, ३. झि ४. सिप्, ५. थस् के स्थान पर क्रमश. १. णल्, २. अतुस्, ३. उस्, ४ थल्, ५. अथुस्, यह पाच आदेश, और 'ब्रू' धातु को 'आह' आदेश होकर] 'आह' यह पद [वर्तमानता सूचक] लट् लकार में सिद्ध किया गया है । [कहीं-कहीं] वह भूतकाल में प्रयुक्त हुआ है । जैसे यह—

[स्वय] भगवान् प्रभु ने यह कहा [इत्याह]

[परन्तु भूतकाल में किया गया 'आह' का प्रयोग] अन्य [प्रयोगो में] भूतकाल के बोधक [लिट् लकार के] णलन्त का [अन्य प्रयोगो के समान यहा भी आदेश हुए 'णल्' आदि लिट् लकार में ही हुए हैं ऐसा समझ कर] लिट् में [बने हुए प्रयोग का] भ्रम होने से [ही 'आह' पद भूतकाल में प्रयुक्त] होता है । चतुर-लोग तो इस [भूतकाल के बोधन के लिए लट् लकार के रूप के साथ 'स्म' जोड़ कर] इस प्रकार प्रयुक्त करते हैं—

स्मित रूप मधु से मधुर अक्षरो वाली वाणी को ['आह स्म' बोलता भया] बोला । 'भगवान नारायण का अनुकरण करता है' यहा भी [अनुकरोति

शवलादिभ्यः स्त्रियां टापोऽप्राप्तिः । ५, ५, ४५ ।

'उपस्रोतः स्वस्थस्थितमहिषशृङ्गाग्रशवलाः
स्रवन्तीनां जाताः प्रमुदितविहङ्गास्तटभुवः' ॥
'भ्रमरोत्करकल्माषाः कुसुमानां समृद्धयः' ॥

इत्यादिषु स्त्रियां टापोऽप्राप्तिः ।[1] 'अन्यतो ङीष्' इति ङीष् विधानात् । तेन 'शवली' 'कल्माषी' इति भवति ॥ ४५ ॥

प्राणिनि नीलेति चिन्त्यम् । ५, २, ४६ ।

शब्द के साथ] कवि ने [भूतकाल सूचक] 'स्म' का प्रयोग किया था [परन्तु वाद में] लेखको ने असावधानी से उसको लिखा नहीं, ऐसा [मैं मानता हूं] मालूम होता है । [अर्थात् 'आह' आदि का वर्तमान काल में प्रयोग अनुचित है । यदि उनको प्रयुक्त किया जाय तो उनके साथ 'स्म' पद का भी प्रयोग करना चाहिए । तब दोष नही रहेगा] ॥ ४४ ॥

'शवल' आदि [शब्दो] से स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' नहीं हो सकता है । [इसलिए 'शवला' आदि प्रयोग न करके 'शबली' प्रयोग करना उचित है] ।

प्रमुदित विहङ्गो से युक्त नदियो के किनारे की भूमिया, धारा के समीप स्वस्थ [निश्चिन्त] होकर बैठे हुए भैसो के सींगो के अग्रभागों से 'शबल' [चित्रविचित्र, कर्बुर] हो गई थी ।

पुष्पो की समृद्धिया [समूह] भ्रमर पंक्तियो से चित्रित ['शबला' कर्बुर] हो रही है ।

इत्यादि [प्रयोगो] में स्त्रीलिङ्ग में [जो टाप् करके 'शवला', 'कल्माषा' आदि प्रयोग बनाए है, वह उचित नहीं है क्योकि उनमें], टाप् नही [प्राप्त] हो सकता है । 'अन्यतो 'ङीष्' [अष्टा० ४, १, ४०] इस सूत्र से [तकारोपध से भिन्न वर्णवाची अनुदात्तान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में] ङीष्' का विधान होने से । इसलिए [इन शब्दो से 'ङीष्' प्रत्यय करके] 'शबली', 'कल्माषी' यह [प्रयोग शुद्ध] होता है । ['शवला', 'कल्माषा' यह प्रयोग अनुचित है] ॥ ४५ ॥

प्राणी [के सम्बन्ध बोधन] में स्त्रीलिङ्ग में 'नीला' यह [प्रयोग भी] चिन्त्य [अशुद्ध] है ।

---

[1] अष्टाध्यायी ४, १, ४० ।

'कुवलयदलनीला कोकिला बालचूते'

इत्यादिषु 'नीला' इति चिन्त्यम्। 'कोकिला नीली' भवितव्यम्। नीलशब्दात् [1]'जानपद' इत्यादि सूत्रेण 'प्राणिनि च' इति ङीष्-विधानात्॥ ४६॥

मनुष्यजातेर्विवक्षाविवक्षे। ५, २, ४७।

आम्र के नये वृक्ष पर कुवलय दल के समान नीला [नीलवर्णा] कोकिला [बैठी है]।

इत्यादि [प्रयोगो] में [कोकिला के विशेषण रूप में प्रयुक्त] 'नीला' यह [पद] चिन्त्य [अशुद्ध] है। कोकिला [के साथ स्त्रीलिङ्ग में] 'नीली' यह [विशेषण] होना चाहिए। नील शब्द से [जानपद-कुण्ड गोण-स्थल-भाज-नाग-काल-नील-कुश-कामुक-कबराद् वृत्यमत्रवपनाकृत्रिमाश्राणास्थौल्यवर्णाच्छादनायोविकारमैथुनेच्छाकेशवेशेषु। अष्टा० ४, १, ४२] जानपद इत्यादि सूत्र से ['नीला-दौषधौ' इस वार्तिक से औषधि अर्थ में तथा] 'प्राणिनि च' [इस [वार्तिक] से [प्राणी के सम्बन्ध बोध में] 'ङीष्' का विधान होने से ['नीली गौ'. 'नीली कोकिला' इत्यादि प्रयोग होने चाहिएं। 'नीला कोकिला' प्रयोग नहीं होना चाहिए। अत' नीला प्रयोग अशुद्ध है]॥ ४६॥

[इकारान्त उकारान्त मनुष्यजातिपरक शब्दो में] मनुष्य जाति की विवक्षा और अविवक्षा [दोनो होती] है।

मनुष्य जाति की विवक्षा होने पर इकारान्त 'निम्ननाभि' आदि शब्दो से 'इतो मनुष्यजाते' सूत्र से 'ङीष्' होकर 'निम्ननाभी' पद बना और उसके सम्बोधन मे 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्व' सूत्र से ह्रस्व होकर हे 'निम्ननाभि' पद बनता है। इसी प्रकार उकारान्त 'सुतनु' शब्द से ऊङ् त ४, १, ६६, सूत्र से 'ऊङ्' प्रत्यय हो कर 'सुतनू' शब्द बना और उसका सम्बुद्धि मे 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्व.' पा० ७, ३, १०७। सूत्र से ह्रस्व होकर 'हे सुतनु' शब्द बनता है। और मनुष्य-जाति की अविवक्षा मे इकारान्त 'निम्ननाभि' शब्द का षष्ठी मे निम्ननाभे' प्रयोग बनता है अन्यथा 'निम्ननाभ्या' होता। 'वरतनु' मे मनुष्य जाति की विवक्षा न होने पर 'ऊङ्' नही होता है इसलिए 'वरतनु' प्रथमा के एक वचन मे बनता है। अन्यथा विवक्षा होने पर ऊङ् होकर 'वरतनू' प्रयोग होगा। इसलिए—

---

[1] अष्टाध्यायी ४, १, ४२।

[1]'इतो मनुष्यजातेः' [2]'ऊङुतः' इत्यत्र मनुष्यजातेर्विवक्षा अविवक्षा च लक्ष्यानुसारतः।

मन्दरस्य मदिराक्षि पार्श्वतो निम्ननाभि न भवन्ति निम्नगाः।
वासु वासुकिविकर्षणोद्भवा भामिनीह पदवी विभाव्यते॥

अत्र मनुष्यजातेर्विवक्षायां 'इतो मनुष्यजातेः' इति 'ङीषि' सति [3]'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इति सम्बुद्धौ ह्रस्वत्वं सिद्ध्यति।

इतो मनुष्यजाते· [पा० ४, १, ६५] और ऊङुतः [पा० ४, १, ६६] यहा [इन सूत्रो मे] मनुष्यजाति की विवक्षा और अविवक्षा लक्ष्य के अनुसार होती है।

हे निम्ननाभि [वाली] मदिराक्षि [वासु] वालिके [भामिनि] प्रिये मन्दराचल के किनारे यह नदिया नहीं है [तुम जिनको नदी समझ रही हो] वह [समुद्र-मन्थन के समय वासुकि सर्प जिसको मन्थनदण्ड रई के स्थानापन्न मन्दराचल के चारो ओर रस्सी के स्थान पर बाध कर और उसको खींच-खींच कर समुद्र का मन्थन किया गया था। उस] वासुकि के [बार-बार] खीचने से उत्पन्न हुई लकीर दिखलाई देती है।

यहा मनुष्यजाति की विवक्षा में [निम्ननाभि तथा मदिराक्षि आदि शब्दो में] 'इतो मनुष्यजाते·' [पा० ४, १, ६५] इस सूत्र ते 'ङीष्' [प्रत्यय] होने पर [निम्ननाभी मदिराक्षी शब्दो के] सम्बोधन के एकवचन में 'अम्बार्थ-नद्योर्ह्रस्वः' [अ० ७, ३, १०७] इस सूत्र से ह्रस्वत्व [और सु का लोपादि होकर हे निम्ननाभि, हे मदिराक्षि आदि पद] सिद्ध होता है [अन्यथा हे निम्ननाभे आदि रूप बनेंगे]।

यह हो सकता है कि निम्ननाभि मे 'इतश्च प्राण्यगवाचिनो वा ङीष् वक्तव्यः' इस नियम के अनुसार नाभि शब्द से ङीप् कर लेने पर भी 'अम्बार्थ नद्योर्ह्रस्वः' से ह्रस्व होकर 'हे निम्ननाभि' रूप बन सकता है। तब मनुष्य जाति की विवक्षा अविवक्षा मानकर ङीप् करने का प्रयत्न क्यो किया जाय।

इसका उत्तर वृत्तिकार यह करते है कि 'निम्ननाभि' पद मे 'निम्न है नाभि जिसकी वह निम्ननाभि है' इस प्रकार का बहुव्रीहि समास है। उस

---

[1] अष्टाध्यायी ४, १, ६५।
[2] अष्टाध्यायी ४, १, ६६।
[3] अष्टाध्यायी ७, ३, १०७।

नाभिशब्दात् पुनः [1]'इतश्च प्राण्यङ्गात्' इतीकारे कृते निम्ननाभीकेति स्यात्।

हृतोष्ठरागैर्नयनोदविन्दुभिर्निमग्ननाभेर्निपतद्भिरङ्कितम्।
च्युतं रुषा भिन्नगतेरसंशयं शुकोदरश्यामभिदं स्तनांशुकम्॥

अत्र निमग्ननाभेरिति मनुष्यजातेरविवक्षेति डीप् न कृतः।

वहुव्रीहि समास वाले पद मे स्त्रीलिंग मे 'इतश्च प्राण्यगवाचिनो वा डीप् वक्तव्य' इस नियम के अनुसार यदि डीप करके 'निम्ननाभी' यह स्त्रीलिंग का रूप वनाया जाय तो उससे 'नद्यृतश्च' [अ० ५, ४, १५३] इस सूत्र से समासान्त कप् प्रत्यय होकर 'केऽण' [अष्टा० ७, ४, १३] से प्राप्त होने वाले ह्रस्व का 'न कपि' [अष्टा० ७, ४, १४] से निषेध हो जाने से 'निम्ननाभीका' यह प्रयोग वनने लगेगा। 'निम्ननाभि' यह प्रयोग नही वनेगा। इसी वात को वृत्तिकार इस प्रकार कहते है।

और नाभि शब्द से 'इतश्च प्राण्यङ्गात्' इस से ईकार अर्थात् डीष् करने पर 'निम्ननाभीका' यह प्रयोग होने लगेगा।

यह स्थल कुछ सन्दिग्ध है। मूल ग्रन्थ मे 'निम्ननाभिकेति' स्यात् यह पाठ दिया है। डा० गगानाथ ने भी अपने आग्लभाषानुवाद मे 'निम्ननाभिका' यही पाठ माना है। परन्तु काव्यालकार सूत्रवृत्ति के टीकाकार त्रिपुरहर भूपाल ने ईकार होने के वाद कप् प्रत्यय और उसके परे रहते ह्रस्वत्व का निपेध करके 'निम्ननाभीका इति स्यात्' ऐसा पाठ दिया है। टीकाकार के अनुरोध से हमने भी यहाँ मूल मे 'निम्ननाभीकेति' पाठ ही रखा है।

मनुष्यजाति की अविवक्षा मे डीप् के अभाव का दूसरा उदाहरण दिखलाते है—

क्रोध के कारण विशृंखल गतिवाली निमग्ननाभि [प्रियतमा] के ओष्ठ पर गिर कर ओष्ठराग का हरण करने वाले [रोने के कारण] टपकते हुए आसुओ से अकित शुक के उदर के समान हरित वर्ण यह चोली [स्तनाशुक] गिर पडी है।

यहा मनुष्यजाति की अविवक्षा है इसलिए 'निमग्ननाभे.' इस पद मे डीष् नहीं किया है। [अन्यथा षष्ठी विभक्ति में नदी शब्द के समान 'निमग्ननाभ्या' यह रूप वनता]।

---

[1] अष्टाध्यायी।

'सुतनु जहीहि मानं पश्य पादानतं माम् ।'

इत्यत्र मनुष्यजातेर्विवक्षेति सुतनुशब्दाद् 'ऊङुतः' इत्यूङि सति ह्रस्वत्वे 'सुतनु' इति सिद्ध्यति ।

'वरतनुरथवासौ नैव दृष्टा त्वया मे ।'

अत्र मनुष्यजातेरविवक्षेति ऊङ् न कृतः ॥ ४७ ॥

ऊकारान्तादप्यूङ् प्रवृत्तेः । ५, २, ४८ ।

उत ऊङ् विहित ऊकारान्तादपि क्वचिद् भवति । आचार्यप्रवृत्तेः । क्वासौ प्रवृत्तिः । 'अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनाम्' इति । अलाबूः कर्कन्धूरित्युदाहरणम् । तेन

'सुभ्रु किं सम्भ्रमेण'

अत्र 'सुभ्रु' शब्द ऊङि सिद्धो भवति । ऊङि त्वसति "सुभ्रू' इति स्यात् ॥ ४८ ॥

'हे सुतनु [सुन्दरी] मान को छोडो और पैरों पर झुके हुए मुझको देखो' यहा [सुतनु शब्द मे] मनुष्यजाति की विवक्षा है इसलिए सुतनु शब्द से ऊङुतः [अष्टा० ४, १, ६६] इस सूत्र से ऊङ् प्रत्यय होने पर [सम्बोधन के एक वचन में पूर्वोक्त 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः [इस सूत्र से] ह्रस्व होने पर 'सुतनु' यह सिद्ध होता है ।

अथवा तुमने मेरी वरतनु [सुन्दरी प्रियतमा] को नही देखा है।

यहां मनुष्यजाति की विवक्षा नही है इसलिए ऊङ् नही किया है। [अन्यथा ऊङ् करने पर 'वरतनूः' का रूप होता] ॥ ४७ ॥

[ऊङुतः ४, १, ६६ में जो उकारान्त शब्दों से ऊङ् प्रत्यय] कहा है वह] ऊकारान्त [शब्द से] भी ऊङ् होता है। आचार्य [वार्तिककार] की प्रवृत्ति [सूत्ररचना] होने से ।

[ऊङुतः इस सूत्र से केवल] उकारान्त से ऊङ् का विधान किया गया है। वह कहीं कही ऊकारान्त [शब्द] से भी हो जाता है। आचार्य [वार्तिककार] की प्रवृत्ति [एतद्विषयक सूत्र रचना] होने से। वह ऊकारान्त से ऊङ् विधायक प्रवृत्ति [सूत्र रचना] कहां की गई है। [यह प्रश्न किया गया है । इसका उत्तर करते है] 'अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनाम्' [प्राणिजातिवाचक शब्दो से भिन्न और रज्जु आदि शब्दो को छोड़ कर शेष उकारान्त शब्दो से ऊङ् प्रत्यय हो]। इस [सूत्र] में ह्रस्व तथा दीर्घ दोनो प्रकार के उकारान्त शब्दो से ऊङ् का विधान वार्तिककार ने किया है]। 'अलाबूः, कर्कन्धूः'

कार्तिकीय इति ठञ् दुर्धरः ५, २, ४९ ।

'कार्तिकीयो नभस्वान्' इत्यत्र 'कालाट्ठञ्' इति ठञ् दुर्धरः । ठञ भवनं दुःखेन ध्रियते ॥ ४९ ॥

शार्वरमिति च । ५, २, ५० ।

'शार्वरं तम' इत्यत्र च 'कालाट्ठञ्' इति ठञ् दुर्धरः ॥ ५० ॥

शाश्वतमिति प्रयुक्तेः । ५, २, ५१ ।

यह उसके उदाहरण है । ['अलाबूः कर्कन्धूः' शब्द स्वतः ही दीर्घ ऊकारान्त शब्द है । फिर भी उनसे ऊङ् प्रत्यय करने का फल 'नोङ्धात्वोः' अष्टा० ६, १, १७५ इस सूत्र से विभक्ति के उदात्तत्व का प्रतिषेध करना ही है । प्राणिजातिवाची 'कृकवाकु.' इत्यादि में तथा 'रज्जुः हनु.' इत्यादि में यह ऊङ् प्रत्ययः नहीं होता है । अन्य उकारान्त शब्दो से ऊङ् हो सकता है] इसलिए—

हे सुभ्रु घबडाती क्यो हो ।

यहां सुभ्रु शब्द से ऊङ् प्रत्यय करके [सम्बुद्धि में 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इस सूत्र से ह्रस्व करके] सुभ्रु यह [रूप] सिद्ध हो जाता है । ऊङ् [प्रत्यय] के न होने [हे श्री. के समान हे] 'सुभ्रूः' यह [रूप] होगा ॥ ४८ ॥

कार्तिकीय इस [प्रयोग] में ['कालाट्ठञ्' इस सूत्र से प्राप्त होने वाला] ठञ् [प्रत्यय] रोका नहीं जा सकता है । [अतः कार्तिक शब्द से ठञ् प्रत्यय होकर 'कार्तिकिक.' प्रयोग होना चाहिए । कार्तिकीय. प्रयोग अशुद्ध है] ।

'कार्तिकीयो नभस्वान्' [कार्तिक का वायु] इस [प्रयोग] में 'कालाट्ठञ्' [अष्टा० ४, ३, ११] इस सूत्र से [प्राप्त होने वाला] ठञ् प्रत्यय का रोकना कठिन है । [ठञ् का होना मुश्किल से रुक सकता है, नहीं रुक सकता है । अतएव 'कार्तिकीय.' यह प्रयोग शुद्ध नहीं है 'कार्तिकिक' यह प्रयोग होना चाहिए] ॥ ४९ ॥

और शार्वरं यह भी [प्रयोग ठीक नहीं है] ।

'शार्वरं तम' रात्रि का अन्धकार यहां भी ['शार्वर' पद में 'शर्वरी' शब्द से] 'कालाट्ठञ्' इस सूत्र से ठञ् रुक नहीं सकता है । [इसलिए 'शार्वरिकं तम.' ऐसा प्रयोग होना चाहिए था 'शार्वरं तम' प्रयोग उचित नही है] ॥ ५० ॥

'शाश्वतम्' यह [शब्द, वार्तिककार के 'शाश्वते प्रतिषेध' इस] प्रयोग से [सिद्ध होता है] ।

'शाश्वतं ज्योतिः' इत्यत्र शाश्वतमिति न सिद्ध्यति। [1]'कालाठञ्' इति ठञ् प्रसङ्गात्। 'येषाञ्च विरोधः शाश्वतिकः' इति सूत्रकारस्यापि प्रयोगः।

आह प्रयुक्तेः। 'शाश्वते प्रतिषेध' इति प्रयोगात्, शाश्वतमिति भवति॥ ५१॥

राजवंश्यादय साध्वर्थे यति भवन्ति। ५, २, ५२।

'राजवंश्याः' 'सूर्यवंश्या' इत्यादयः शब्दाः, 'तत्र साधुः' इत्यनेन साध्वर्थे यति प्रत्यये सति साधवो भवन्ति। भवार्थे पुनर्दिगादिपाठेऽपि वंशशब्दस्य वंशशब्दान्तान्न यत् प्रत्ययः। तदन्तविधेः प्रतिषेधात्॥ ५२॥

[पूर्वपक्ष] 'शाश्वत ज्योतिः' इस [खण्डवाक्य] मे 'शाश्वत' यह [पद] सिद्ध नही होता है। 'कालाट्ठञ्' इस [पूर्वोक्त सूत्र] से ठञ् प्राप्त होने से ['शाश्वतं' के बजाय 'शाश्वतिक' प्रयोग होना चाहिए]। 'येषां च विरोधः शाश्वतिक.' [अष्टाध्यायी २, ४, ९] यह सूत्रकार [पाणिनि] का भी ['शाश्वतिकः' ही] प्रयोग है। [अतएव 'शाश्वतम्' यह प्रयोग उचित नही है]।

[उत्तरपक्ष] कहते है। ['शाश्वतम्' यह प्रयोग भी वार्तिककार द्वारा] प्रयुक्त होने से [ठीक है। वार्तिककार के] 'शाश्वते प्रतिषेधः' इस [प्रकार अण् प्रत्ययान्त 'शाश्वत' शब्द के] प्रयोग से 'शाश्वतम्' यह [प्रयोग भी शुद्ध] होता है॥ ५१॥

'राजवंश्य' आदि शब्द ['तत्र साधुः' अष्टाध्यायी ४, ४, ८९ इस सूत्र से] साधु अर्थ में यत् [प्रत्यय] होने पर [सिद्ध] होते है। [भवार्थ में नहीं]।

राजवश्य, सूर्यवश्य इत्यादि शब्द 'तत्र साधुः' [अष्टाध्यायी ४, ४, ८९] इस [सूत्र] से साधु अर्थ में यत् प्रत्यय होने पर शुद्ध होते है। भवार्थ में [यत् प्रत्यय का विधान करने वाले 'दिगादिभ्यो यत्' अष्टाध्यायी ४, ३ ५४ में निर्दिष्ट] दिगादि [गण] में वश शब्द का पाठ होने पर भी वश शब्दान्त [राजवश, सूर्यवश इत्यादि शब्दो] से यत् प्रत्यय नहीं होता है। ['ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिप्रतिषेध' इस परिभाषा के अनुसार] तदन्तविधि का प्रतिषेध होने से ['राजवंशे भव राजवंश्यः', 'सूर्यवशे भवः सूर्यवंश्यः' यह प्रयोग

दारवशब्दो दुष्प्रयुक्त. । ५, २, ५३ ।

'दारवं पात्रम्' इति 'दारव' शब्दो दुष्प्रयुक्तः । 'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः' इति मयटा भवितव्यम् । ननु विकारावयवयोरर्थयोर्मयड् विधीयते । अत्र तु दारुण इदमिति विवक्षायां 'दारवम्' इति भविष्यति । नैतदेवमपि स्यात् । 'वृद्धाच्छः' इति 'छ' विधानात् ॥ ५३ ॥

मुग्धिमादिषु इमनिज् मृग्यः । ५, २, ५४ ।

नहीं बन सकते । किन्तु 'तत्र साधुः' इस सूत्र से साधु अर्थ में 'यत्' प्रत्यय करके 'राजवंशे साधुः राजवंश्यः', 'सूर्यवंशे साधुः सूर्यवंश्य' इस प्रकार के प्रयोग बन सकते हैं ।] ॥ ५२ ॥

['दारुण इदं दारव' लकड़ी का इस अर्थ में प्रयुक्त] 'दारवम्' यह शब्द दुष्प्रयुक्त [अशुद्ध प्रयोग] है ।

[लकड़ी का बना हुआ पात्र है इस अर्थ में प्रयुक्त] 'दारवं पात्रम्' यह 'दारव' शब्द अनुचित [अशुद्ध] प्रयोग है । [यहां दार शब्द से] 'नित्यं वृद्ध-शरादिभ्यः' [अष्टाध्यायी ९, ३, १४४] इस [सूत्र] से मयट् [प्रत्यय होकर 'दारुमय' इस प्रकार का प्रयोग] होना चाहिए ।

[प्रश्न] मयट् प्रत्यय तो विकार और अवयव अर्थ में होता है । यहां तो 'दारुण इदं' यह लकड़ी का है इस [सम्बन्ध सामान्य] की विवक्षा में ['तस्येदं' अष्टाध्यायी ४, ३, १२० इस सूत्र से अण् प्रत्यय होकर] 'दारव' यह [प्रयोग ठीक] हो जायगा । [फिर आप उसको दुष्प्रयुक्त या अशुद्ध प्रयोग क्यो कहते हैं ?]

[उत्तर] इस प्रकार भी यह [दारवम्] नहीं बन सकता है । 'वृद्धाच्छ.' [अष्टाध्यायी ५, २, ११४] इस [सूत्र] से 'छ' का विधान होने से ['दार्वीयं पात्रम्' यह प्रयोग होना चाहिए । अत. 'दारवं पात्रम्' यह प्रयोग ठीक नहीं है] ॥ ५३ ॥

मुग्धिमा आदि [प्रयोगो] में [दिखाई देने वाला] इमनिज् [प्रत्यय] खोजना पड़ेगा । [साधारणत. 'पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा' अष्टाध्यायी ५, १, १२२ इस सूत्र से पृथ्वादि गणपठित शब्दो से इमनिच् प्रत्यय विकल्प से होता है । परन्तु उस पृथ्वादिगण में मुग्ध, प्रौढ, आदि शब्दो का पाठ नहीं है । इसलिए इन शब्दो से इमनिच् प्रत्यय सम्भव नहीं है] ।

'मुग्धिमा' 'प्रौढ़िमा' इत्यादिषु इमनिज् मृग्यः । अन्वेषणीय इति ॥ ५४ ॥

औपम्यादयश्चातुर्वर्ण्यवत् । ५, २, ५५ ।

औपम्यं, सान्निध्यम्, इत्यादयश्चातुर्वर्ण्येवत् । 'गुणवचन' इत्यत्र 'चातुर्वर्ण्यादीनामुपसंख्यानम्' इति वार्तिकात् स्वार्थिकष्यञन्तः ॥ ५५ ॥

ष्यञ पित्करणादीकारो बहुलम् । ५, २, ५६ ।

'गुणवचनब्राह्मणादिभ्य' इति पित्करणादीकारो भवति । स बहुलम् । 'ब्राह्मण्यम्' इत्यादिषु न भवति । 'सामग्र्य' सामग्री, वैदग्ध्यं वैदग्धीति ॥ ५६ ॥

मुग्धिमा, प्रौढिमा इत्यादि [प्रयोगो] में [श्रूयमाण] इमनिच् [प्रत्यय मृग्य अर्थात्] अन्वेषणीय है । [पृथ्वादि गण में मुग्ध, प्रौढ आदि शब्दो का पाठ न होने से इमनिज् विधायक 'पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा' अष्टाध्यायी ५, १, १२२ इस सूत्र से इमनिच् प्रत्यय होना सम्भव नहीं है । अतः यह प्रयोग अशुद्ध है] ॥ ५४ ॥

औपम्य आदि [शब्द] चातुर्वर्ण्य [शब्द] के समान ['चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्' इस वार्तिक से स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय करके बनते] है ।

'औपम्य', 'सान्निध्य' इत्यादि [प्रयोग] चातुर्वर्ण्य [शब्द] के समान [स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय करके सिद्ध होते] है । ['गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' अष्टाध्यायी ५, १, १२४ इस सूत्र के प्रतीक रूप] गुणवचन इस [सूत्र] में 'चतुर्वर्णादीनाम् स्वार्थे उपसंख्यानम्' इस वार्तिक से स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्ययान्त [जैसे चातुर्वर्ण्यम पद बनता है । इसी प्रकार स्वार्थिक ष्यञ् प्रत्यय करके ही 'उपमैव औपम्यम, 'सन्निधिरेव सान्निध्यम्' आदि प्रयोग बनते] है ॥ ५५ ॥

[गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः ष्यञ् इस सूत्र से विहित] ष्यञ् [प्रत्यय] के पित्करण से [उसके आधार पर 'विद्गौरादिभ्यश्च' । अष्टा० ४, १, ४१ इस सूत्र से किए हुए 'ङीष्' प्रत्यय का अवशेष रूप] ईकार बहुल करके होता है ।

'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च [अष्टाध्यायी ५, १, १२४] इस [सूत्र] से जो [ङीष् प्रत्यय का अवशेष रूप] ईकार होता है वह बहुल करके [कहीं होना, कहीं नहीं] होना है । [जैसे] 'ब्राह्मण्यम्' इत्यादि [प्रयोगो] में नहीं

धन्वीति व्रीह्यादिपाठात् । ५, २, ५७ ।

व्रीह्यादिषु 'धन्व' शब्दस्य पाठात् 'धन्वी' इति इनौ सति सिद्धो भवति ॥ ५७ ॥

चतुरस्रशोभीति णिनौ । ५, २, ५८ ।

बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ।

होता है । सामग्रचम् सामग्री, वैदग्ध्यम् वैदग्धी [इन प्रयोगो में विकल्प करके होता है । अर्थात् जहाँ स्वार्थिक ष्यञ् प्रत्यय होता है वहाँ उसके षित् होने से 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इस सूत्र से विहित ङीष् प्रत्यय बहुल करके होता है। इसलिए 'ब्राह्मण्यम्' आदि में ङीष् नहीं होता और अन्यत्र विकल्प से होता है] ।

यहाँ काशी वाले सस्करण मे सामग्रचम्-सामग्री, वैदग्ध्यम्-वैदग्धी इन उदाहरणो को इसी सूत्र की वृत्ति मे जोड दिया है । परन्तु डा० गगानाथ जी भी ने इस ग्रन्थ का जो अग्रेजी अनुवाद किया है उसमे इस सूत्र के बाद 'सामग्र्यादिषु विकल्पेन' यह सूत्र और दिया है । और 'सामग्रयम्' आदि को उस सूत्र का उदाहरण माना है । काशी वाले सस्करण मे वह सूत्र नही है ॥ ५६ ॥

धन्वी यह [पद] व्रीह्यादि [गण में धन्व शब्द का] पाठ होने से [सिद्ध होता है]।

[धन्वन् शब्द के अदन्त न होने से 'अत इनिठनौ' अष्टाध्यायी ५, २, ११५ सूत्र से इनि प्रत्यय नही हो सकता है । इसलिए] व्रीह्यादि गण में [उसको आकृतिगण मान कर] 'धन्व' शब्द का पाठ होने से ['व्रीह्यादिभ्यश्च' अष्टा० ५, २, ११६ । इस सूत्र से] इनि प्रत्यय होकर 'धन्वी' यह [पद] सिद्ध होता है । [वृत्ति के वाराणसीय सस्करण में 'धन्वन्' शब्द का व्रीह्यादि गण में पाठ माना है । उसके स्थान पर डा० गगानाथ झा ने 'धन्व' शब्द का पाठ रखा है । वही अधिक अच्छा है इसलिए हमने भी मूल में उसी पाठ को स्थान दिया है] ॥ ५८ ॥

['सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' अष्टा० ३, २, ७८ सूत्र से ताच्छील्य अर्थ में 'चतुरस्र शोभितु शील अस्य' इस विग्रह में] णिनि प्रत्यय होने पर 'चतुरस्रशोभी' यह [पद] सिद्ध होता है ।

नव यौवन से विभक्त उसका शरीर चारो ओर से शोभायुक्त होगया ।

इत्यत्र 'चतुरस्रशोभि' इति न युक्तम्। व्रीह्यादिषु शोभाशब्दस्य पाठेऽपि इनिरत्र न सिद्ध्यति 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिप्रतिषेधात्'।

भवतु वा तदन्तविधिः। कर्मधारयान्मत्वर्थीयानुपपत्तिः। लघु-

'यहां चतुरस्रशोभि' यह [वपु का विशेषण] ठीक नहीं है। [क्योकि 'शोभा शब्द' अदन्त नही है इसलिए 'अत इनिठनौ', अष्टा० ५, २, ११५। सूत्र से इनि प्रत्यय नही हो सकता है। व्रीह्यादि गण मे यदि उसका पाठ होता तो 'व्रीह्यादिभ्यश्च' अष्टा० ५, २, ११६ सूत्र से इनि प्रत्यय हो सकता था। परन्तु वहां भी 'शोभा' शब्द का पाठ नही है। तीसरा मार्ग यह हो सकता था कि जैसे पिछले सूत्र में व्रीह्यादि गण को आकृतिगण मान कर उसमें अपठित 'धन्व' शब्द का व्रीह्यादि गण में पाठ मान लिया गया है। इसी प्रकार इस 'शोभा' शब्द का भी व्रीह्यादि गण में पाठ मान कर 'इनि' प्रत्यय कर लिया जाय। सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि], व्रीह्यादि [गण को आकृति गण मान कर उस] मे शोभा शब्द का पाठ मानने पर भी यहां इनि [प्रत्यय] सिद्ध नही हो सकता है। 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन' [इत्यादि के अनुसार] से तदन्तविधि का निषेध होने से। [शोभा शब्द जिसके अन्त में है ऐसे 'चतुरस्रशोभा' पद से 'इनि' नही हो सकता है]।

अथवा दुर्जनतोष-न्याय से तदन्त विधि भी मान ले तो भी 'चतुरस्रशोभी' यह पद नही बन सकता है। क्योकि 'चतुरस्रा च सा शोभा चतुरस्रशोभा' यह कर्मधारय समास हुआ। 'सा अस्यास्ति इति चतुरस्रशोभि' इस प्रकार कर्मधारय से मत्वर्थीय इनि प्रत्यय करने पर 'चतुरस्रशोभि' पद को सिद्ध किया जाय यह चौथा प्रकार हो सकता था। परन्तु वह भी सम्भव नही है। क्योकि 'न कर्मधारयान् मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत् तदर्थप्रतिपत्तिकर' इस के अनुसार कर्मधारय समास से मत्वर्थीय इनि प्रत्यय नही हो सकता है। क्योकि 'चतुरस्रा शोभा यस्य तत् चतुरस्रशोभम्' इस बहुव्रीहि समास से भी वह अर्थ निकल आता है। और इस बहुव्रीहि की प्रक्रिया मे लाघव रहता है। इसलिए 'चतुरस्रशोभि' पद की सिद्धि के लिए कर्मधारय से मत्वर्थीय इनि प्रत्यय के गुरुभूत चतुर्थ मार्ग का भी अवलम्बन नही किया जा सकता है। इसी बात को आगे कहते है।

अथवा [दुर्जनतोष-न्याय से कथञ्चित्] तदन्तविधि भी [मान्य] हो जाय [फिर भी] कर्मधारय [समास] से मत्वर्थीय [इनि प्रत्यय] की अनुपपत्ति है। [क्योकि उसमें प्रक्रिया का गौरव, आधिक्य होता है। और

त्वात् प्रक्रमस्येति बहुव्रीहिणैव भवितव्यम्। तत्कथमिति मत्वर्थीयस्याप्राप्तौ चतुरस्रशोभीति प्रयोगः।

आह। णिनौ। चतुरस्रं शोभते इति ताच्छीलिके णिनावयं प्रयोगः।

अथ, अनुमेयशोभीति कथम्। नह्यत्र पूर्ववद् वृत्तिः शक्या कर्तुमिति।

शुभेः साधुकारिण्यावश्यके वा णिनिं कृत्वा तदन्ताच्च भावप्रत्यये पश्चाद् बहुव्रीहिः कर्तव्यः। अनुमेयं शोभित्वं यस्य इति। भावप्रत्ययस्तु गतार्थत्वान्न प्रयुक्तः। यथा निराकुलं तिष्ठति, सधीरमुवाच इति ॥ ५८ ॥

बहुव्रीहि समास में दुबारा 'इनि' आदि के करने बिना ही वह अर्थ प्रतीत हो जाता है इसलिए] प्रक्रिया के लाघव से बहुव्रीहि [समास] ही होना चाहिए। तो इस प्रकार [कर्मधारय से] मत्वर्थीय [इनि प्रत्यय] के प्राप्त न होने पर 'चतुरस्रशोभि' यह प्रयोग कैसे होगा। [यह पूर्वपक्ष हुआ।]।

[उत्तर] कहते हैं। ['व्रीह्यादिभ्यश्च' से इनि प्रत्यय नहीं अपितु 'चतुरस्रं शोभितु शीलं अस्य' इस विग्रह में 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' अष्टा० ३,२,७८ इस सूत्र से] 'चतुरस्रं शोभते' इस प्रकार ताच्छील्यक णिनि [प्रत्यय] के होने पर यह [चतुरस्रशोभि] प्रयोग सिद्ध होता है।

[प्रश्न] अच्छा 'अनुमेयशोभि' [यह प्रयोग] कैसे बनेगा। [यह प्रश्न करने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि 'चतुरस्रशोभि' के समान ताच्छील्य में णिनि करने से भी इस 'अनुमेयशोभि' शब्द की सिद्धि नही हो सकती है। क्योकि] यहां ['अनुमेयशोभि' इस पद में] पूर्व [चतुरस्रशोभि] के समान ['अनुमेयं शोभितुं शील अस्य' इस प्रकार का] विग्रह नही किया जा सकता है। [क्योकि यहा इस प्रकार के अर्थ की सङ्गति नहीं लगती है। और ताच्छील्य में णिनि करने के लिए कर्म का उपपद होना आवश्यक है। परन्तु यहां किसी कर्म की विवक्षा सम्भव नहीं है। और उसके बिना ताच्छील्य णिनि नहीं हो सकता है। तब 'अनुमेयशोभि' पद कैसे बनेगा। यह पूर्वपक्षी का प्रश्न है। आगे इसका उत्तर देते है]।

[उत्तर] शुभ [धातु] से साधुकारी [अर्थ] में [साधुकारिण्युपसख्यानम् इस वार्तिक से] अथवा आवश्यक [अर्थ] में [आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनि. अष्टा० ३, ३, १७० इस सूत्र से] णिनि [प्रत्यय] करके ['शोभि' पद बन जाने पर] उस णिनि प्रत्ययान्त ['शोभि' शब्द] से ['तस्यभावस्त्वतलौ' अष्टा० ५, १, ११९ सूत्र से] भाव प्रत्यय [त्व] होने पर पीछे [उस 'शोभित्व' शब्द का 'अनुमेय' शब्द के साथ] बहुव्रीहि [समास] करना चाहिए। 'अनुमेय है शोभित्व

कञ्चुकीया इति क्यचि । ५, २, ५९ ।

'जीवन्ति राजमहिषीमनु कञ्चुकीयाः' इति कथम् ? मत्वर्थीयस्य 'छ' प्रत्ययस्याभावात् । अत आह, 'क्यचि' । 'क्यच्' प्रत्यये सति कञ्चुकीया इति भवति । 'कञ्चुकमात्मन इच्छन्ति' कञ्चुकीयाः ॥ ५९ ॥

बौद्धप्रतियोग्यपेक्षायामपि आतिशायनिकाः । ५, २, ६० ।

जिसका' [यह बहुव्रीहि समास का स्वरूप होगा । इस प्रकार के समास होने पर 'अनुमेयशोभित्व' पद बन सकता है । इसमें से अनुमेयशोभित्व पद के अन्त का 'त्व' रूप] भावप्रत्यय तो [बिना बोले भी] गतार्थ हो जाने से [यहां अनुमेयशोभि पद में] प्रयुक्त नहीं किया है । जैसे ['निराकुलत्वं यथा स्यात् तथा तिष्ठति' अथवा 'धीरत्वेन सह इति सधीरमुवाच' इन विग्रहो में प्रयुक्त] 'निराकुलं तिष्ठति' तथा 'सधीरमुवाच' [प्रयोगों] में [गतार्थ होने से 'त्व' रूप भाव प्रत्यय का प्रयोग नहीं किया जाता है । इसी प्रकार 'अनुमेयं शोभित्वं यस्य' इस विग्रह में 'त्व' रूप भाव प्रत्यय का प्रयोग न करने पर 'अनुमेयशोभि' पद की सिद्धि हो सकती है ।] ॥ ५८ ॥

'कञ्चुकीयाः' यह [प्रयोग 'सुप आत्मनः क्यच्' सूत्र से] क्यच् [प्रत्यय] होने पर [सिद्ध होता है] ।

राजमहिषी के साथ कञ्चुकीय जीवित रहते है ।

यह ['कञ्चुकीयाः' पद का प्रयोग] कैसे [सिद्ध होगा] ? [क्योंकि 'कञ्चुका येषा सन्ति इति कञ्चुकीयाः' इस अर्थ में कञ्चुक शब्द से] मत्वर्थीय छ प्रत्यय का [विधायक कोई सूत्र न होने के कारण] अभाव होने से । [कञ्चुकीया पद सिद्ध नही हो सकता है । यह पूर्वपक्ष हुआ] इस [समाधान] के लिए कहते है । क्यचि अर्थात् ['सुप आत्मनः क्यच्' अष्टा० १, १, ८ सूत्र से] क्यच् प्रत्यय होने पर [और 'क्यचि च' अष्टा० ७, ४, ३३ सूत्र से कञ्चुक शब्द के अन्तिम अकार के स्थान पर ईकार होकर] 'कञ्चुकीयाः' यह [पद सिद्ध] होता है । [उसका विग्रह अथवा अर्थ] 'कञ्चुकमात्मन इच्छन्ति' अपने लिए 'कञ्चुक' चाहते है इस अर्थ में 'कञ्चुकीयाः' [यह प्रयोग सिद्ध होता] है ॥ ५९ ॥

वो । [शब्द से उपात्त न होने पर भी बुद्धि में सन्निकृष्ट] प्रतियोगी की अपेक्षा म भी अतिशयार्थक [तरप् तमप् आदि प्रत्यय] हो सकते है ।

[साधारणतः देवदत्त यज्ञदत्त से अधिक बलवान् है इस प्रकार देवदत्त यज्ञदत्त रूप दोनो प्रतियोगियो के शब्दतः उपात्त होने पर ही 'बलवत्तरः'

बौद्धस्य प्रतियोगिनोऽपेक्षायामप्यातिशायनिकास्तरबादयो भवन्ति। घनतरं तमः, बहुलतरं प्रेम इति ॥ ६० ॥

कौशिलादय इलचि वर्णलोपात् । ५, २. ६१ ।

'कौशिलो' 'वासिल' इत्यादयः कथम् ? आह । कौशिकवासिष्ठादिभ्यः शब्देभ्यो नीतावनुकम्पायां वा 'घनिलचौ च'[1] इति इलचि कृते, 'ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः'[2] इति वर्णलोपात् सिद्ध्यन्ति ॥ ६१ ॥

'बलवत्तमः' आदि तरप् तमप् प्रत्ययान्त प्रयोग होते है । परन्तु कहीं-कहीं शब्दतः उपात्त न होने पर भी] बुद्धि निष्ठ प्रतियोगी की अपेक्षा में भी अतिशयार्थक तरप् आदि [प्रत्यय]होते है । जैसे 'घनतर' अन्धकार, अथवा 'बहुलतर' प्रेमहै । [यहा किसकी अपेक्षा 'घनतर' अथवा किसकी अपेक्षा 'बहुलतर' है यह बात शब्दतः उपात्त नहीं है। परन्तु 'इदं घनं, इदं च घन, इदमनयोरतिशयेन घनमिति घनतर' इस रूप में बुद्धिनिष्ठ प्रतियोगी की अपेक्षा में घनतर शब्द का प्रयोग हुआ है]॥ ६० ॥

कौशिल आदि [शब्द 'घनिलचौ च' अष्टा० ५, ३, ७९ सूत्र से] इलच् [प्रत्यय] होने पर ['ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः' अष्टा० ५, ३, ८३ सूत्र से कौशिक शब्द के द्वितीय अच् से परे 'क' इसका, और वासिष्ठ शब्द के द्वितीय अच् से परे 'ष्ठ' इस] वर्ण के लोप से [और 'यस्येति च' अष्टा० ६, ४, १४८ सूत्र से इकार का लोप होकर 'कौशिल.', 'वासिल.' आदि शब्द सिद्ध होते है]।

['अनुकम्पित. कौशिक, कौशिलः' 'अनुकम्पितो वसिष्ठः वासिल.' इस अर्थ या विग्रह में] कौशिल वासिलः इत्यादि [शब्द प्रयुक्त होते है वह] कैसे [बनते है । यह प्रश्न है]। [इसका उत्तर] कहते है। कौशिक और वसिष्ठ आदि शब्दो से नीति अथवा अनुकम्पा में ['अनुकम्पायाम्' अष्टा० ५, ३, ७६, 'नीतौ च तद्युक्ते' अष्टा० ५, ३, ७७ इन सूत्रो के प्रकरण में] 'घनिलचौ च' [अष्टा० ५, ३, ७९] सूत्र से इलच् [प्रत्यय] करने पर 'ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादच.' [अष्टा० ५, ३, ८३] इस [सूत्र] से [द्वितीय अच् 'इ' के बाद के 'क' तथा 'ष्ठ'] वर्ण को लोप होने से [कौशिल वासिल यह शब्द] सिद्ध होते है ॥६१॥

---

१. अष्टाध्यायी ५, ३, ७९ ।

२ अष्टाध्यायी ५, ३, ८३ ।

'मन्दं मन्दं नुदति पवनः' इत्यत्र मन्दं मन्दं इत्यप्रकारार्थे भवति। प्रकारार्थत्वे तु 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विर्वचने कृते कर्मधारयवद्भावे च मन्दमन्दमिति प्रयोगः। मन्दं मन्दं इत्यत्र तु नित्यवीप्सयोरिति द्विर्वचनम्। अनेकभावात्मकस्य नुदेर्यदा सर्वे भावा मन्दत्वेन व्याप्तुमिष्टा भवन्ति तदा वीप्सेति ॥ ८६ ॥

न निद्राद्रुगिति भष्भावप्राप्ते.। ५, २, ८७।

'निद्राद्रुक्-कादवैवच्छविरुपरिलसद्घर्घरो वारिवाहः।'

इत्यत्र 'निद्राद्रुक्' इति न युक्त.।' एकाचो बशो भष्' इति भष्भावप्राप्तेः। अनुप्रासप्रियैस्त्वपभ्रंशः कृतः। अ ८७॥

[अष्टा० ८, १, ११] इस [सूत्र] से [गुणवाचक 'मन्दं' शब्द को] द्विर्वचन करने पर [उस 'प्रकारे गुणवचनस्य' सूत्र के 'कर्मधारयवदुत्तरेषु' अष्टा० ६, १, ११ इस सूत्र के अधिकार में होने से कर्मधारयवद्भाव [कर्मधारय समास के समान कार्य] होने से [सु आदि विभक्ति लोप होकर] 'मन्दमन्द' यह प्रयोग होगा। ['मन्दं मन्द' प्रयोग नही बनेगा]। 'मन्दं मन्द' इस [कालिदास के प्रयोग] में तो 'नित्य वीप्सयो' [अष्टा० ८, १, ४] इस [सूत्र] से द्विर्वचन हुआ है ['प्रकारे गुणवचनस्य' से नही]। [अनेकभावविषय व्याप्त इच्छा वीप्सा] अनेक भावात्मक [अनेक पदार्थों से सम्बद्ध] नुद् [णुद् प्रेरणे] धातु के [सम्बद्ध] सब पदार्थों में [एक साथ] जब व्याप्ति इष्ट हो तब 'वीप्सा' कहलाती है। [यह वीप्सा का लक्षण है। यहां वीप्सा में द्विर्वचन हुआ है। अतएव कर्मधारयवद्भाव न होने से विभक्ति लोप आदि नही होता है। अतः 'मन्दं मन्दं नुदति पवन' यह प्रयोग बन जाता है।]॥ ८६ ॥

'निद्राद्रुक्' यह [प्रयोग] उचित नही है। ['एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' अष्टा० ८, २, ३७ इस सूत्र से द् के स्थान पर ध रूप] भष् भाव की प्राप्ति होने से। [निद्राध्रुक् प्रयोग होना चाहिए]।

ऊपर गड़-गड करता हुआ राक्षस के समान [भयंकर] बादल निद्रानाशक है [सोने नही देता है]।

यहा [इस उदाहरण में] 'निद्राद्रुक्' यह [प्रयोग] उचित नहीं है। 'एकाचो बशो भष् ['एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वो.' अष्टा० ८, २, ३७] इस [सूत्र] से भष् भाव [द के स्थान पर ध] के प्राप्त होने से ['निद्राध्रुक्' प्रयोग होना चाहिए था। परन्तु] अनुप्रासप्रिय [कवियो] ने [उस शब्द को] बिगाड [कर निद्राद्रुक् कर] दिया है॥ ८७ ॥